

# प्रतिबोधि

आचार्य श्री पद्मसागरसूरि

# प्रतिबोध

## प्रवचनकार

शासन प्रभावक प्रखर वक्ता  
आचार्य श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज

## प्रेरक

ज्योतिर्विद् मुनिराज श्री अरुणोदयसागरजी महाराज

## प्रकाशक

श्री अरुणोदय फाउन्डेशन  
कोबा

- \* प्रतिबोध  
आचार्य श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी म.
- \* प्रकाशक/पापिस्थान  
श्री अरूणोदय फाउन्डेशन  
कोबा, जिला गांधीनगर
- \* © सर्वाधिकार प्रकाशकधीन
- \* तृतीय संस्करण, वि.सं. २०५०, कार्तिक शुक्ल सप्तमी,  
दिनांक २०-११-९३
- \* शुभ निमित्त  
मुनि श्री अरूणोदयसागरजी म. को गणिपद प्रदान
- \* प्रतियाँ १५००
- \* मूल्य २० /-
- \* टाईप सेटींग एवं मुद्रक :  
पार्श्व कोम्प्यूटर्स, अहमदाबाद-५०  
फोन : ३९६२४६

## समर्पण

यह पुस्तक समर्पित है-

भवसागर में आकंठ निमग्न

उस धर्मजिज्ञासु मानव समाज को

जिसके कोमलतम अन्तःकरण में

शाश्वत-सुख पाने की प्रबल

उत्सुकता जागृत हो चुकी है !

- पद्मसागरसूरि

# प्रकाशकीय

प्रथम संस्करण से

चातुर्मास काल में पानी की तरह प्रवचनों की बरसात होती है; किन्तु सरोवर के समान किसी ग्रन्थ में यदि उसे संकलित कर लिया जाय तो प्रवचनकाररूपी मेघ के अन्यत्र विहरने पर भी पिपासु जिज्ञासुवृन्द उससे पर्याप्त लाभ उठाता रह सकता है ।

इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर परमपूज्य प्रातःस्मरणीय आचार्यप्रवर सद्गुरुदेव श्रीमत्पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा. के प्रवचनों का यह अभूतपूर्व संकलन आज “प्रतिबोध” पुस्तक के नाम से श्री अरुणोदय फाउन्डेशन द्वारा प्रकाशित करते हुए हमें विशेष हर्ष का अनुभव हो रहा है ।

इस अवसर पर, सुव्यवस्थित रूप से सरल भाषा में समस्त प्रवचनों का पुनर्लेखन करनेवाले अनुभवी सम्पादक पण्डित श्री परमार्थाचार्य को नहीं भुलाया जा सकता, जिन्होंने दिनरात कठोर परिश्रम करके कम से कम समय में इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार कर दी ।

अन्त में हम आश्वासन देते हैं कि यदि समाज में इस ग्रन्थ का स्वागत हुआ तो शीघ्र ही हम कुछ और ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करने का प्रयास करेंगे ।

## तृतीय संस्करण की बेला में ...

परम पूज्य आचार्य प्रवर श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा. के शिष्य एवं हमारे मार्गदर्शक मुनि प्रवर श्री अरूणोदयसागरजी म.सा. को गणपद प्रदान प्रसंग पर ‘प्रतिबोध’ का तृतीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें परम प्रसन्नता हो रही है ।

इस प्रकाशन में सहयोगी सभी व्यक्तियों के हम अत्यंत आभारी हैं व भविष्य में भी हमें इसी प्रकार सहयोग मिलता रहेगा ऐसी आकांक्षा सह

अध्यक्ष एवं ट्रस्टीगण

श्री अरुणोदय फाउन्डेशन

कोबा - ३८२ ००९

## अपनी ओरसे

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं रोगाणि मरणाणि य ।  
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसन्ति जन्तुणो ॥

(जन्म का और बुढापे का दुःख है - मृत्यु का और बीमारियों का दुःख है । अरे यह संसार दुःख से कितना भरा हुआ है ! जहाँ प्राणी कष्ट पा रहे हैं ।)

सांसारिक दुःखों से मुक्त कौन कर सकता है ? ज्ञान । मनीषियों का यह डिण्डिम मोष है :-

ऋते ज्ञानान् मुक्तिः ॥  
(ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती)

फिर भौतिक पदार्थों के ज्ञान को विद्या या विद्वत्ता नहीं कहते । वास्तविक विद्या वही है, जिससे मुक्ति मिले :-

सा विद्या या विमुक्तये ।  
(जो मुक्त करे वही विद्या है)

दुःखों से मुक्त होने की विद्या में वही निष्णात होता है, जिसे सत्य का ज्ञान हो । जगत्कल्याण ही सत्य है । हमें उसका अन्वेषण करना है ।

जिनसे अपना और दूसरों का कल्याण हो- सब का भला हो, उन नीतियों- नियमों-सिद्धान्तों का अन्वेषण करना ही सत्यान्वेषण कहलाता है ।

अब प्रश्न यह है कि सत्य का अन्वेषण कैसे किया जाय ? कौन करे यह कार्य ? इसका उत्तर प्रभु महावीर के इस प्रेरणा वचन में विद्यमान है :-

अप्यणा सञ्चमेसेजा ॥

उत्तराध्ययन ६/२

(स्वयं ही सत्य का अन्वेषण करना चाहिये)

शास्त्रकारों ने अपने अनुभव लिखे हैं । हम अपने अनुभवों से उनकी तुलनात्मक जाँच करें । इसके लिए हमें अपने चित्त को चिन्तन से जोड़ना होगा- मन को मनन से मथना होगा बुद्धि को बोध से सम्बद्ध करना होगा, तभी विचारकता विकसित होगी- आत्मा स्वभाव में निमग्न होगी और प्रतिपल शाश्वत सुख की अनुभूति हो सकेगी ।

परमपूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में शास्त्रों का अध्ययन करने से जो कुछ में समझ पाया हूँ, उसे प्रवचनों के माध्यम से परोसने का मैं यथामति प्रयास करता रहता हूँ । यह ग्रन्थ उसी साधारण प्रयास का एक फल है । कैसा है ? इसका निर्णय पाठकों पर छोड़कर मैं अपनी वाणी को आज के लिए विराम देता हूँ ।

आपका हितैषी,

पद्मसागरसूरि

## सुकृत के सहयोगी

परम शासन प्रभावक आचार्य प्रवर श्रीमत्  
पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज साहब की सत्प्रेरणा से

रादेर-निवासी (वर्तमान में भीवंडी)

श्रीमति मधुकान्ता सुमनलाल इच्छापोरिआ

तथा

कनकप्रभा एस. शाह

का इस पुस्तक के प्रकाशन में सुन्दर आर्थिक सहयोग प्राप्त  
हुआ है तदर्थ हम ट्रस्ट की ओर से आपको धन्यवाद देते  
हुए आभार व्यक्त करते हैं ।

ट्रस्टी गण

श्री अरुणोदय फाउन्डेशन- कोबा



## शीर्षक-सूची

	पृष्ठ
१. धर्म का स्थान	१०
२. निर्मल मन	१४
३. स्वास्थ्य	१८
४. मानव-भव	२२
५. अहंकार और ममता	२७
६. कुछ पर्व	३१
७. सम्यक्त्व	३५
८. जीवन-विकास	३९
९. जीवन का लक्ष्य	४३
१०. सच्चा जैन	४७
११. गुरु-शिष्य	५१
१२. साधनों का सदुपयोग	५६
१३. परोपकार	६०
१४. आत्मज्ञान	६४
१५. सच्चिदानन्द	६८
१६. सत्संग	७२
१७. निर्भय बनें	७६
१८. शिक्षार्थी	८०
१९. धर्म और विज्ञान	८४
२०. भोगों का त्याग	८८
२१. दुर्लभ चतुरंग	९२
२२. ज्ञान से मोक्ष	९६
२३. पुण्यपाल	१०१
२४. अंजना	१०५
२५. मदनरेखा	१०९
२६. मयणासुन्दरी	११३
२७. सुविचार	११८

# प्रवचन - खण्ड

## धर्म का स्थान

चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर स्वामी के अनुसार कर्म बाँधते समय जीव विचार नहीं करता; इसीलिए वह विकार का शिकार बन जाता है ।

जीवनभर वह परिग्रह के पीछे पड़ा रहता है । धन प्राप्त करने के लिए वह कोई भी दुष्कृत करने में नहीं हिचकिचाता । वृद्धावस्था भी उसमें बाधक नहीं बनती । शरीर शिथिल होने पर भी तृष्णा शिथिल नहीं होती । बाल सफेद होने पर भी मन काला बना रहता है । दाँत गिर जाने पर भी लोभ उठता रहता है । कितनी विचित्र बात है ?

राजा कुमारपाल ने किसी चूहे की स्वर्णमूद्राएँ उठा ली थीं तो वह सिर फोड़ कर मर गया था- इससे पता लगता है कि तिर्यञ्च गति में भी तृष्णा अपना दुष्प्रभाव दिखाती है; फिर मनुष्य गति की तो बात ही क्या ?

सुना था कि एक आदमी के पाँच सौ रुपये किसी ने चुरा लिये । इससे वह इतना अधिक दुःखी हुआ कि दुःख से मुक्त होने के लिए अपने शरीर पर घासलेट छिड़ककर उसने आत्मा हत्या कर ली !

शंकराचार्यने लिखा है :-

“अर्थमनर्थ भावय नित्यम्  
नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्”

अर्थ (धन) को हमेशा अनर्थ (अनिष्ट) समझो । सचमुच उम्र में जरा भी सुख नहीं है ।]

एक दृष्टान्त द्वारा यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगी :-

एक फकीर सामने से भागता हुआ चला आ रहा था । दो मित्रों ने उसे रोक कर भागने का कारण पूछा । फकीर ने कहा :- “मैंने मार्ग में अमुक वृक्ष के नीचे मानवमारक को देखा था । उससे बचने के ही लिए मैं भागकर चला आ रहा हूँ ।”

फकीर चला गया । मित्र आगे बढ़े । उस वृक्ष के नीचे पहुँचकर उन्होंने सोने की एक ईंट देखी । फिर एक ने दूसरे से कहा कि वह फकीर हमें डरा कर दूसरी दिशा में भेजना चाहता था, जिससे यह ईंट हमें न मिल जाय और वह स्वयं ही लौटते समय इसे अपने साथ ले जा सके; पन्तु अब उसकी योजना असफल हो गई है ।

दूसरं ने कहा- “हम धन कमाने के लिए ही अपने गाँव से निकले थे । भाग्य से आज ही यह ईंट मिल गई अतः हमारा मनोरथ पूर्ण हो गया गया है । अब हमें अपने गाँव को लौट चलना चाहिये । गाँव में पहुँच कर हम आधी-आधी ईंट दोनों ले लेंगे”।

प्रस्ताव स्वीकृत हो गया । दोनों अपने गाँव की ओर खाना हुए । मार्ग में एक दूसरा गाँव आया । उसके बाहर एक सघन वृक्ष की छाया में दोनों ठहर गये । भूख लगी । एक मित्र दूसरे पर ईंट की सुरक्षा का भार डालकर उस गाँव में भोजनसामग्री लेने पहुँचा । वहीं उसके मन में विचार आया कि मिठाई में यदि थोड़ा-सा जहर मिला दूँ तो उसे खाते ही वह मर जायेगा और सोने की पूरी ईंट मुझे मिल जायेगी । उसने वैसा ही किया । सामग्री लेकर उस वृक्ष के समीप लौट आया ।

अब जल की जरूरत थी । मित्र ने कहा- “तुम खाना शुरु करो । मैं अभी पास के कूँए से लोटे में जल भर लाता हूँ ।”

ऐसा कहते ही वह मित्र जल भरकर लाने के बहाने लोटा-डोर उठाकर कूँए की ओर चल पड़ा ।

उधर वृक्ष के पास बैठे मित्र के भी मन में पाप आ गया । उसने सोचा कि यदि मैं उस कूँए में ही मित्र को धकेल दूँ तो पूरी ईंट पर मेरा अधिकार हो जायेगा । फलस्वरूप वह ईंट वहीं छोड़कर उठा और भागता हुआ कूँए पर जा पहुँचा । बोला :- “मित्र ! तुम भोजन-सामग्री लेकर आये और तत्काल पानी लेने चले गये ? तुम्हें तो आराम की जरूरत है । लाओ, पानी में खींच दूँ ।”

ऐसा कहते हुए उसे कूँए में धक्का देकर गिरा दिया । लौटकर मिठाई खाई तो जहर के प्रभाव से वह खुद भी चल बसा । थोड़ी देर बाद जब फकीर लौटकर उसी रास्ते से गुजरा और उसने पेड़ के नीचे का दृश्य देखा तो सहसा बोल उठा :- “सचमुच यह ईंट मानवमारक है !” फकीर फिर वहाँ से भाग खड़ा हुआ ।

अपनी सन्तान के लिए धन का संग्रह करते समय मनुष्य ऐसा नहीं सोच पाता, जैसा एक कवि ने कहा है :-

“पूत सपूत तो का धन संचय ?  
पूत कपूत तो का धन संचय ?”

यदि पुत्र सपुत्र है तो वह स्वयं कमा लेगा और कुपुत्र है तो संचित धन को भी उड़ा देगा- दोनों दशाओं में धन का संचय व्यर्थ है ।

पुत्र ही क्यों ? सारे कुटुम्बी लोग अपनी कायारूप कम्पनी के शेयरहोल्डर्स हैं। काया से उत्पन्न धन का लाभ तो सब उठाते हैं; परन्तु सजा अंकले श्रेष्ठ आत्माराम को भोगनी पड़ती है। डाकू रत्नाकर को जब महर्षियों के द्वारा यह बात समझ में आ गई तब हत्या, लूटपाट आदि छोड़कर वह तपस्या में लीन हो गया और महर्षि वाल्मीकि के नाम से विख्यात हुआ।

अनेक कष्ट सह कर प्राप्त धन का उपयोग मनुष्य कामभोग में करता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें अर्थ-काम की एक जोड़ी है और धर्म-मोक्ष की दूसरी। पहली जोड़ी जीव को संसार में भटकती है और दूसरी उससे मुक्त करती है। निम्नान्वे प्रतिशत संसारी जीव पहली जोड़ी के ही चक्कर में पड़े रहते हैं। उस चक्कर से ऊपर नहीं उठ पाते।

संसार का मार्ग प्रेयोमार्ग है और मुक्ति का मार्ग श्रेयोमार्ग। जिनके विवेकलोचन बन्द रहते हैं, वे अदूरदर्शी प्राणी प्रेयोमार्ग पर ही दौड़ते रहा करते हैं।

अर्थ के प्रति अरुचि हो जाय तो उसे परोपकार में लगा सकते हैं; परन्तु काम के प्रति अरुचि सहज नहीं होती। वर्षों तक काम अपनी ओर प्राणियों को आकर्षित करता रहता है। तपस्या के कारण शान्त दिखाई देनेवाला काम भी कब विराट् रूप धारण कर लेगा ? इसका कोई भरोसा नहीं।

पर्वत की एकान्त कन्दरा में बैठे हुए घोर तपस्वी रथनेमी की दृष्टि ज्यों ही राजुल नामक निर्वसना साध्वी पर पड़ी, त्यों ही उनके मन में कामाग्नि प्रज्वलित हो गई। गिड़गिड़ाकर वे उस साध्वी से भोगयाचना करने लगे।

अखण्ड शीलव्रतधारिणी महासती राजुल ने प्रतिबोध देते हुए कहा :-  
“हे मुनिराज ! राज्य के साथ ही आपने समस्त काम-भोगों का भी त्याग कर दिया था। कोई दाता कभी दत्त वस्तु को दुबारा ग्रहण करना नहीं चाहता। व्यक्त वस्तु को पुनः प्राप्त करने की इच्छा तो वमन की चाह के सामने अवाञ्छनीय - निन्दनीय है। आप जैसे धर्मात्मा तपस्वी को ऐसा निन्दनीय कार्य शोभा नहीं देता।”

इससे उनकी कामाग्नि शांत हो गई और यथोचित प्रायश्चित्त लेकर वे पुनः तपस्या में लीन हो गये

वह काम ही था, जिसने महर्षि विश्वामित्र जैसे तपस्वी को उर्वशी पर मोहित करके निस्तेज बना दिया था।

यही हाल सूत और उपसूत का हुआ । ये दोनों घनिष्ट मित्र तपस्या के द्वारा शक्तिशाली बनकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों को अपने चरणों में झुकाना चाहते थे । दोनों मिलकर २२ (बाईस) योद्धाओं के बराबर सशक्त हो जाते थे । यह बात विष्णु को ज्ञात हो गई । उन्होंने मोहिनी रूप में प्रकट होकर नृत्य के द्वारा हाव-भाव प्रदर्शित किये । तपस्या और साधना भूलकर दोनों तपस्वी उस मोहिनी पर मुग्ध हो गये । मोहिनी ने कहा कि तुम दोनों में से जो अधिक बलवान् होगा, मैं उसी का वरण करूँगी । अधिक बल किसका है ? इसका निर्णय युद्ध के द्वारा ही हो सकता था । फलस्वरूप दोनों आपस में युद्ध करने लगे । अन्त में एक की मृत्यु हो गई । शक्ति बाईस से घटकर दो के बराबर रह गई । इससे ब्रह्मा विष्णु-महेश पराजय से बच गये । ऐसा है भयंकर काम !

अर्थ और काम ये दोनों पुरुषार्थ धर्म और मोक्ष के बीच में रखे गये हैं- यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है । अर्थ और काम पर धर्म से अंकुश रखा जा सकता है ।

ईमानदारी और मेहनत से धन कमाया जाय तथा उसका उपयोग परोपकार में किया जाय तो अर्थ अपने वश में रहेगा । इसी प्रकार कामनाओं को ऊर्ध्वगामी बनाया जाय अर्थात् कामिनी से माता पर, माता से गुरु पर और गुरु से प्रभु पर उन्हें ले जाया जाय तो वे पवित्र होंगी और इस तरह "काम" पर धर्म का अंकुश रहेगा ।

धर्म से यह लोक भी सुधरता है और परलोक भी । धर्म से विचार और विवेक पैदा होता है । अर्थ और काम के सर्वोच्च आसन पर बिराजमान चक्रवर्ती महाराज भरत को धर्म ने ही विरक्त बनाया था- सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनाया था - मोक्ष दिलाया था; इसी लिए चार पुरुषार्थों में धर्म का स्थान सर्वप्रथम रखा गया है ।

यदि आप भोजन भी प्रभु की आज्ञानुसार करेंगे तो वह आपका भोजन भी काम पुरुषार्थ कहलाएगा अन्यथा, काम कहलाएगा ।

## निर्मल मन

आज मानव स्वयं अपना मूल्य बदल रहा है। वह मानवता से नहीं, साधनसामग्री से ही किसी मानव का मूल्यांकन करता है। अकबर इलाहाबादी ने कहा था :-

नहीं कुछ इसकी पुरसिश  
उल्फते अल्लाह कितनी है  
सभी यह पूछते है,  
आपकी तनखाह कितनी है ॥

ईश्वर में आपकी भक्ति कितनी है ? यह कोई नहीं पूछता। इसके बदले सब यहीं पूछते हैं कि आपका वेतन क्या है ? वेतन के आधार पर ही आपका सम्मान किया जाता है।

लोग भूल जाते हैं कि साधन सामग्री का मालिक मनुष्य है; इसलिए मनुष्य का ही महत्त्व अधिक है। वह वस्तु के आसपास न घुमकर वस्तुओं को ही अपने आसपास घुमानेवाला केन्द्र है।

आधुनिक युग में मशीनें जितनी मँहँगी हैं, मनुष्य उतने ही सस्ते हैं। साधनसामग्री ही सर्वत्र सब के सिर चढ़कर बोलती है। मनुष्य साधनों (मशीनों) का मालिक न रहकर गुलाम बन गया है। जो लोग कार में बैठकर यहाँ व्याख्यान सुनने आते हैं, उनकी कार कभी बंकार हो जाय तो उस दिन व्याख्यान की भी छुट्टी हो जाय। व्याख्यान लक्ष्य है, कार नहीं। कार तो केवल साधन है। हृदय में रही हुई शास्त्र श्रवण की भावना ही श्रावक की शोभा बढ़ाती है, उसकी कार नहीं।

यह बात वही समझ सकता है, जिसके जीवन में धर्म पुरुषार्थ हो। वह व्यक्ति यशाशक्ति हिंसा से दूर रहता है। अहिंसा को वह परम धर्म मानता है। मांसाहार के विषय में तो धार्मिक व्यक्ति कभी विचार तक नहीं कर सकता।

फिर भी हैं कुछ लोग, जो धर्मस्थानों में जाते हैं - व्याख्यान भी सुनते हैं - सामायिक आदि क्रियाएँ भी करते हैं; परन्तु गुपचुप मांसाहार कर लेते हैं। ऐसे लोगों में से कुछ फैशन के रूपमें मांसाहारियों से मित्रता निभाने के लिए। कई लोग इस भ्रम के शिकार होकर मांसभोजी बन जाते हैं कि उसके शरीर में शक्ति बढ़ेगी - आयु लम्बी होगी; परन्तु वे भूल जाते हैं कि शाकाहारी नियमित भोजन से सौ वर्षों तक आसानी से जिया जा सकता है। मांसाहारी का जीवन छोटा और क्रूर होने से नीरस होता है।

कहा गया है :-

“पुरुषा वै शतायुद्रा॥”

(पुरुष सौ वरस तक जीवित रहता है ।)

भारतीय सभ्यता और संस्कृति ही इस लम्बी आयु का प्रमुख कारण थी । असामयिक मृत्यु को अशुभ माना जाता था । विषय-कषाय से रहित शान्त जीवन ही आदर्श था ।

आज कैसा है ? आज का जीवन आधि व्याधि-उपाधि से लदा है । चिन्ता चिन्ता की तरह जलाती है- रोग आग की तरह झुलसाते हैं और अन्य कष्टों का भय आयु को घटाता है

भय पर जय पाने के लिए हमें “अभयदयाण” (अभयदाता) परमेश्वर की शरण में जाना पड़ेगा । उससे मानसिक और शारीरिक दोनों तरह का स्वास्थ्य प्राप्त होगा ।

विषय प्राप्ति की चिन्ता से ऊपर उठकर हमें प्रभु के स्वरूप का चिन्तन करना है । चिन्तन में विवेक, विनय, निर्भयता और प्रसन्नता का प्रकाश है, जो आयु को लम्बी बनाता है ।

पुण्य के द्वारा मनुष्य भव में पूर्णआयु भोगी जाती है ।

मन सहित पाँचों इन्द्रियों में जो पटुता है, उसे हम कटुता में परिवर्तित न होने दें- प्राप्त पटुता के लिए प्रबल पुण्य का आधार मानें और इन्द्रियों की तथा मन की पवित्रता टिकाये रखें तो निश्चय ही हमारा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य विकसित और विलसित होगा ।

वैसे देखा जाय तो शरीर का स्वास्थ्य मन के स्वास्थ्य पर अवलम्बित है । कहा भी है किसी ने : - “जिसका मन साफ है, उसका जीवन स्वर्ग है और जिसका मन मैला है, उसका जीवन नरक !”

मन मैला होता है- कषाय से । कषाय चार हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ । यहाँ मान का अर्थ अभिमान या घमण्ड है । माया का अर्थ है- छल । क्रोध और लोभ का अर्थ स्पष्ट है - सब लोग समझते हैं । इन चारों कषायों से रहित मन निर्मल होगा; परन्तु निर्मलता ही पर्याप्त नहीं है । निर्मल जल भी यदि उष्ण हो- खारा हो- दुर्गन्धित हो तो पीने योग्य नहीं माना जाता । निर्मलता के साथ शीतलता, मधुरता और सुगन्ध भी देखी जाती है ।

उसी प्रकार निर्मल मन में (कषायों से अकलुषित अन्तः कारण में) मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य- इन चार भावों के दर्शन किये जाते हैं :-



“मैत्री प्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि  
सत्त्वगुणाधिकलिश्यमानाविनयेषु ।

- तत्त्वार्थसूत्रम् ७/६

मैत्री प्रत्येक सत्त्व (प्राणि) के साथ होनी चाहिए । अन्तःकरण से निरन्तर “मित्री मे सव्वभूएसु” (मेरी समस्त प्राणियों से मित्रता है) ऐसी ध्वनि निकलती रहनी चाहिए । इससे हमारा व्यवहार अहिंसामय प्रेममय बनेगा ।

प्रमोद (हर्ष) अपने से अधिक गुणियों के प्रति होना चाहिए । साधारणतः लोग अपने से ऊंचे लोगों को देखकर ईर्ष्या की आग में जलने लगते हैं । इससे वे स्वयं अपना ही नुकसान करते हैं । स्पर्धा (होड़) अच्छी होती है, ईर्ष्या बुरी । स्पर्धा में अपने आपको विकसित करके दूसरों के बराबर पहुँचने या उनसे आगे बढ़ने की भावना होती है; परन्तु ईर्ष्या में दूसरों को गिराने की दुर्भावना रहती है जिसके अन्तःकरण में प्रमोद होता है, वह अपने से अधिक गुणवानों का आदर करता है - उनसे मिलकर प्रसन्न होता है ।

कारुण्य भाव दुःखियों के प्रति होना चाहिए । किसी को पीड़ा पाते देखकर हृदय काँप जाना चाहिए । यही अनुकम्पा है - दया है, जो धर्म का मूल है :-

“दया धर्म का मूल है पाप मूल अधिमान ।

“तुलसीं दया न छोड़िये, जब लग घटमें प्राण ॥”

बड़े-बड़े महात्माओं को करुणासागर कहा जाता है; क्योंकि कारुण्यभाव ने ही उनकी आत्मा को ऊपर उठाया है- महान् बनाया है ।

चौथा भाव है- माध्यस्थ अथवा तटस्थता । यह अविनेय (अपात्र या अयोग्य) शिष्यों के प्रति रखने योग्य भाव है । जो उपदेश से नहीं सुधरता, वह धीरे-धीरे दुनिया में कटुतर अनुभव पाकर अपने आप सुधर जाता है; अतः उसके प्रति उपेक्षावृत्ति रखी जानी चाहिये ।

कषायरहित निर्मल मन में इन चार भावों के विकसित होने पर व्यक्ति अमृतसरोवर में डुबकी लगाने लगता है । मृत्यु का भय उससे बिदा हो जाता है । वह गाने लगता है :-

“अब हम अमर भये, न मरेगे !”

जिसका मन निर्मल होता है, उसका तन भी स्वस्थ होता है । एक प्राचीन घटना के द्वारा इस बात की पुष्टि होती है ।

हरिभद्र नामक एक विद्वान् ब्राह्मण थे । एक दिन वह कारणवश किसी जिनमन्दिर में चले गए ।

वहाँ महावीर प्रभुकी प्रतिमा को देखकर व्यंग्यपूर्वक हरिभद्र बोल उठे :-

“वपुरेव तवाचष्टे  
स्पष्ट मिष्टान्नभोजनम् ।  
नहि कोटरसंस्थेऽग्नौ  
तरुर्भवतिशाद्वलः ॥”

[हे भगवन् ! आपका शरीर ही कह रहा है कि आप मिठाई खाते रहे हैं - यह सपष्ट है; क्योंकि यदि कोटर में आग लगी हो (पेट भूखा हां) तो पेड़ हराभरा नहीं रह सकता ।]

थोड़े समय बाद वह याकिनी महत्तरा नाम की साध्वी के संपर्क में आएँ । उन्होंने उसे आचार्य महाराज के पास भेजा । उनसे हरिभद्र ने बोध पाया और धीरे-धीरे संसार से विरक्ति होने पर प्रव्रज्या ले ली । अपने गुरुदेव से जैन शास्त्रों का मननपूर्वक अध्ययन किया ।

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए हरिभद्र मुनि वर्षों बाद जब उसी नगर में पधार और उन्होंने उसी मन्दिर में प्रतिमा के दर्शन किये, तब बोले -

“वपुरेव तवाचष्टे  
भगवन् ! वीतरागताम् ।  
नहि कोटरसंस्थेऽग्नौ  
तरुर्भवति शाद्वलः॥”

[हे भगवन् ! आपका (यह हृष्टपुष्ट) शरीर ही आपकी वीतरागता को प्रकट कर रहा है; क्योंकि जिस पेड़ के खोंडर में आग हो, वह हराभरा नहीं रह सकता ।]

मन में यदि राग की आग लगी हो तो शरीर भला कैसे पुष्ट हांगा ?

यही मुनि हरिभद्र आगे चलकर जैनाचार्य श्री हरिभद्रसूरि के नाम से विख्यात हुए और उन्होंने एक हजार चार सौ चवालीस (१९४४) ग्रन्थों की रचना की ।

राग, ममता, मोह, आसक्ति, वासना आदि मन के विकारों को दूर करने की प्रेरणा हमें इस घटना से लेनी है ।

## स्वास्थ्य

हिन्दी में एक कहावत बहुत प्रसिद्ध है :-

“पहला सुख निरोगी काया”

शरीर रोगों से रहित हो - स्वस्थ हो, यह सबसे बड़ा सुख है । स्वस्थ शरीर से ही समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं । जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है :-

“शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥”

(निश्चय ही धर्म का पहला साधन शरीर है ।)

धर्म का आचरण शरीर से ही होता है । जिसका शरीर अस्वस्थ है, वह दूसरों की सेवा नहीं कर सकता । रोगियों का इलाज वही वैद्य कर सकता है, जो स्वयं स्वस्थ हो । स्वस्थ व्यक्ति स्वयं भी प्रसन्न रहा है और दूसरों की भी प्रसन्नता बढ़ाता है ।

एक पाश्चात्य विचारक बीचर ने कहा है :- “शरीर वीणा है, आनन्द संगीत; परन्तु वीणा दुरुस्त हो- यह सब से पहले जरूरी है ।”

वीणा का एक भी तार ढीला हो तो उससे अच्छे संगीत के योग्य उत्तम स्वर नहीं निकल सकते; उसी प्रकार शरीर में कहीं भी कुछ उपद्रव हो- रोग हो तो हम प्रसन्न नहीं रह सकते ।

भव्य भवन हो, बहुमूल्य फर्नीचर हो, भरा-पूरा परिवार हो, सुशीला पत्नी हो, आज्ञाकारी पुत्र हो, आधुनिकतम भोगोपभोग की सामग्री हो, स्वादिष्ट खाद्य और पेय पदार्थ मौजूद हों; परन्तु अपने शरीर में यदि एक सौ चार डिग्री बुखार भी मौजूद हो तो सोचिये, क्या होगा ? हमें कुछ भी नहीं सुहायगा । यही कारण है कि सभी विचारकों ने शारीरिक स्वास्थ्य पर जोर दिया है । करोड़ों रुपयों से भी स्वास्थ्य को अधिक मूल्यवान् माना है ।

शारीरिक स्वास्थ्य से भी पहले मानसिक स्वास्थ्य आवश्यक है; क्योंकि यदि तन तन्दुरस्त न हो तो मन तन्दुरस्त नहीं रह सकता ।

मन मनन करता है, विचार करता है, शरीरको संचालित करता है । पंच महाभूतों से बना हुआ शरीर तो मनकी आज्ञा का पालन करता है । मन यदि दुःखी हो तो शरीर भी अस्वस्थ हो जाता है । सन्त तुकाराम ने वर्षों पहले कहा था :-

“मन करा रे प्रसन्न  
वसिद्धीचे साधन ॥”

(सब सिद्धियों के साधन मन को प्रसन्न रखिये)

जेन योगी श्री आनन्दघनजी ने एक बार गाया था :-

“चित्त प्रसन्ने रे पूजनफल कहुँ रे  
पूजा अखण्डित एह ॥”

उनके अनुसार चित्तकी प्रसन्नता ही प्रभूकी अखण्ड पूजा है !

जो व्यक्ति हँसमुख होता है, वह सदा अनेक मित्रों से घिरा रहता है; क्योंकि प्रसन्नता में चुम्बक की तरह आकर्षण होता है। इससे विपरीत जो व्यक्ति उदास रहता है- दूसरों के सामने अपना दुखड़ा ही सुनाया करता है- रोया करता है, उसके मित्र धीरे-धीरे कम होते जाते हैं और एक दिन ऐसा आता है कि वह अकेला रह जाता है।

अब केवल यह सोचना है कि मन प्रसन्न कैसे रखा जाय, विकारों से उसे कैसे बचाया जाय और सद्बिचारों से उसे कैसे भरा जाय।

दुनिया का जितना नुकसान एटमबमों से हुआ है, उससे अधिक घटिया फिल्मों से हुआ है - फिल्मी गीतों से हुआ है; क्योंकि इनसे मन विकृत होता है- विषयों और कषायों से लिप्त होता है। यही बात बाजार उपन्यासों के लिए कही जा सकती है। इन सबसे अपने आपको दूर रखना है।

एक सीढ़ी से मनुष्य ऊपर भी चढ़ सकता है और नीचे भी उतर सकता है। मन के द्वारा आप उन्नति भी पा सकते हैं और अवनति भी। मन से सर्जन भी होता है और विसर्जन भी ठीक ही कहा गया है :-

“मन एव मनुष्याणाम्  
कारणं बन्धमोक्षयोः ॥”

(मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है )

प्रतिकूल परिस्थिति यों में भी विचारक मन निर्मल बना रहता है। महाराज श्रृणिक ने जेल में भी विशुद्ध विचारों के द्वारा कर्म-निर्जरा की थी। अनुकूल स्थितियों में जीने की और प्रतिकूल स्थितियों में मरने की इच्छा तो सभी करते हैं; परन्तु जिसका मन निर्मल होता है, वह न दुःख में घबराता है और न सुख में घमण्ड करता है। वह तो सुख-दुःख से ऊपर उठकर निजानन्द में रमण करता है, वीतराग का स्मरण करता है।

प्रभु का स्मरण न करते विषयों का स्मरण करनेवाले की दुर्दशा कैसी हीती है - यह जानने के लिए गीता के दो श्लोक देखिये :-

ध्याय तो विषयान्पुंसः

सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गत्सञ्जायते कामः

कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

२/६२

क्रोधाद् भवति सम्मोहः

सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो

बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

२/६३

[पुरुष यदि विषयों का ध्यान करता है तो उससे उनमें आसक्ति हो जाती है । आसक्ति से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से स्मृति का नाश, उससे बुद्धि का नाश और बुद्धि के नाश से उस पुरुष का सर्वनाश (पतन) हो जाता है ।]

सभ्य व्यक्ति जिस प्रकार बिना काम के आदमीयों को भवन में नहीं आने देता, उसी प्रकार व्यर्थ के विचारों को मनमें मत आने दीजिये । भौतिक मनोहर वस्तुओं के प्रति मोह नष्ट हुआ कि आपका दुःख भी गायब हो जायेगा :-

“दुःखं हयं जस्स न होइ मोहो ॥”

- उत्तराध्ययनसूत्र ३२/८

(जिस में मोह नहीं होता, उसका दुःख नष्ट हो जाता है ।)

दुःख नष्ट होने पर मन में प्रसन्नता उत्पन्न होगी । किसका दुःख ? अपना दुःख मिटाने का प्रयास तो सभी प्राणी करते हैं, परन्तु महापुरुष वह है, जो दूसरों के दुःख को भी अपना दुःख समझकर उसे मिटाने का प्रयास करे ।

अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन का उदाहरण इस विषय में सब से लिए प्रेरणादायक है ।

वे एक दिन घर से निकलकर किसी महत्वपूर्ण मीटिंग में शामिल होने जा रहे थे । मार्ग में एक ओर पल्लव के कीचड़ में फँसकर बाहर निकलने के लिए छटपटाने वाले एक सूअर पर उनकी नजर पड़ गई । वे तत्फाल उसके समीप जा पहुँचे और खींचकर उसे बाहर निकाल दिया। मन ही-मन उस मूक पशु ने कितनी शुभकामनाएँ राष्ट्रपति के लिए व्यक्ति की होंगी- इसकी कल्पना कोई दुःखमुक्त व्यक्ति ही कर सकता है ।

सूअर को कीचड़ से निकालने के प्रयास में लिंकन की पोशाक पर कीचड़ के छींटे लग गये; परन्तु क्या करते ? अब इतना समय नहीं था कि पुनः घर जाकर पोशाक बदली जा सके । समय पर मीटिंग में पहुँचना जरूरी था । वे तुरन्त कारमें सवार होकर मीटिंग में गये और उन्होंने भाषण भी दिया ।

लोगों ने कीचड़ से भरी भव्य पोशाक का कारण जब उनसे सेंक्रेटरी से पूछकर जाना तो सब सदस्यों की ओर से एक व्यक्तिने खडे होकर उनकी परीपकार परायणता की प्रशंसा की; परन्तु राष्ट्रपति ने उसका उत्तर देते हुए कहा :- ‘आप व्यर्थ मेरी प्रशंसा कर रहे हैं । मैंने कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं किया है । सूअर को तड़पते हुए देखकर मेरे दिल में जो दुःख हुआ था, उसी दुःख को मिटाने के लिए मैंने उसे बाहर निकाला था !’

राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के दिलमें जो दुःख हुआ था, उसे जैनशास्त्र के शब्द में अनुकम्पा कहते हैं - यही दया है, जो धर्म की माता है ।

“धम्मस्स जणणी दया ॥”

दया करने के लिए होती है, केवल कहने-सुनने के लिए नहीं । विषय कषाय से रहित निर्मल मन में ऐसी अनूकम्पा आसन जमाती है ।

करुणा के सरोवर प्रभु महावीर की सौम्य शान्त मुद्रा भी मन में पवित्र भाव जगा सकती है । आर्द्रकुमार कों पेट्टी में से जिन प्रतिमा प्राप्त हुई । इससे पहले उन्होंने कभी प्रतिमा के दर्शन नहीं किये थे । प्रतिमा की शान्त मुद्रा का उनके हृदय पर क्या प्रभाव हुआ और वे किस प्रकार आत्मोदधार के लिए तत्पर हो गये- सो आप सब जानते हैं

निर्मल अन्तःकरण में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं का अमृतरस भर जाता है, तब मन अपनी चंचलता का त्याग करके धर्म में स्थिर होता है और निरन्तर प्रसन्न रहता है :-

प्रसादे सर्व दुःखानां  
हानिरस्योपजायते ।  
पसन्नचेतसो ह्याशु  
बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

(प्रसन्न मन में समस्त दुःख समाप्त हो जाते हैं । जिसका चित्त प्रसन्न रहता है, उसमें शीघ्र बुद्धि का निवास होता है ।)

गीता के इस श्लोक से मालूम होता है कि बुद्धिमत्ता के लिए भी मानसिक प्रसन्नता आवश्यक है । प्रसन्नता से शारीरिक और मानसिक-दोनों प्रकार का स्वास्थ्य प्राप्त हो सकता है ।

## मानवभव

चत्तारि परमंगाणि  
दुल्लहाणि य जन्तुणो ।  
माणुसत्तं सुईं सद्धा  
संजमम्मि य वीरियं ॥

[मनुष्यभव, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम- ये चारों अंग (गुण) प्राणियों में अत्यन्त दुर्लभ हैं ।]

यहाँ प्रभु महावीर ने जिन चार गुणों को दुर्लभ बताया है, उनमें पहला है- मानवभव । आज इसी पर थोड़ा विचार करें ।

चौरासी लाख जीवयोनियों में भटकते हुए प्राणी को बड़ी मुश्किलसे मनुष्य-भव प्राप्त होता है; परन्तु हर वह प्राणी, जिसे मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है, मानव कहलाने का अधिकारी नहीं है । सच्चा मानव वही है, जिसमें मानवता हो- मानवोचित सद्गुणों का निवास हो । सद्गुणों से रहित मानवशरीर वैसा ही दिखाई देता है, जैसा जलरहित (सूखा) कोई सरोवर !

दीवार चुननेवाला मजदूर उपर उठता है और कुंआ खोदनेवाला नीचे जाता है । श्रम तो दोनों करते हैं; फिर भी परिणाम भिन्न भिन्न हैं । ऐसा क्यों ? दीवार चुनने का काम कठित है- उसमें बुद्धि का अधिक उपयोग करना पड़ता है । इससे विपरीत खड्डा खोदने का काम सरल है । इसीलिए एक प्रकाश की ओर- आकाश की दिशा में बढ़ता है और दूसरा अन्धकार की ओर-नरक की दिशा में ।

ठीक इसी प्रकार मन-वचन-काया का दुरुपयोग करने वाला दानवता की दिशा में बढ़ता है और उनका सदुपयोग करने वाला मानवभवकी ।

संसार में रहकर भी जल में कमल की तरह साधु निर्लिप्त रहता है । कल्लुए के समान अपनी इन्द्रियों को संकुचित करता है । विषय-कषायों से अपने मन को दूषित नहीं करता । सब जीवों के कल्याण की कामना करता है ।

विद्वान् भी दुर्जन हो तो उससे दूर रहने की सलाह नीतिकार देते हैं :-

दुर्जनःपरिहर्त्तव्यो  
विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन्

मणिना भूषितः सर्पः  
किमसौ न भयकरः ?

(विद्या से सुशोभित दुर्जन का भी त्याग कर देना चाहिये । क्या मणि से अलंकृत साँप भयंकर नहीं होता ?)

साँप तो जिसे डसता है, वही मरता है; परन्तु दुर्जन डसता किसी और को है तथा मरता कोई और है । इसका तात्पर्य यह है कि दुर्जन झूठी शिकायत (चुगली) करके किसी को भी पिटवा देता है । दुर्जन के मुँह से सदा कटुक कठोर शुद्ध ही प्रवाहित होते हैं । सज्जन ऐसे शत्रु से अपने मुँह को कलुषित नहीं करता ।

किसी पण्डित ने एक बार कहा था :- “आप मुझे सौ गालियाँ देकर देख लें, गुस्सा नहीं आयेगा ।”

यह सुनकर महामना मदनमोहन मालवीय जी ने उत्तर दिया :- “पण्डितजी ! आपक गुस्से की परख होने से पहले मेरी जीभ तो गन्दी हो ही जायेगी ! मैं ऐसी भूल क्यों करूँ ?”

हमें भी अपनी जीभ को गालियों की गन्दगी से बचाना है । हो सकता है, हम किसी की प्रशंसा न कर सके; परन्तु निन्दा चुगली-गाली से तो बचे रह सकते हैं ! इतना ही काफी है । रहीम साहब ने कहा था :-

‘रहिमन’ जिह्वा बावरी  
कहियै सरग-पतार ।  
आपु तो कहि भीतर रही,  
जूती खात कपार ॥

ऐसी ही दुर्दशा होती है- यदि हम वाणी का संयम न रखें । प्रभु महावीर “देवानुप्रिय” या “महानुभाव” कहकर ही सब को सम्बोधित करते थे ।

मानवता के लिए वाणी का संयम बहुत जरूरी है । जैन शास्त्रोंमें मानवभाव को बहु ऊँचा स्थान दिया गया है । सबसे ऊँचा स्थान मोक्ष (सिद्धाशिला) है । वहाँ पहुँचने का अधिकार केवल मनुष्य को प्राप्त है, अन्य किसी प्राणी को नहीं । अनुत्तर देवलोक के देवों को भी मोक्ष पाने के लिए मनुष्यशरीर धारण करना पड़ता है । मनुष्य ही सर्वज्ञ हो सकता है- चरमशरीरी हो सकता है; और कोई जीव नहीं ।

एक दिन सिकन्दर ने अपने एक सज्जन सेनापति को उसके ऊँचे पद से हटा कर देखा कि वह प्रसन्न रहता है । कारण पूछने पर उसने



बताया :- “मेरा अनुभव मेरे साथ है; इसलिए सभी वर्तमान सेनापति मेरी सलाह लेने आते हैं। पहले साधारण सैनिक मेरे समीप आने की हिम्मत नहीं करता था। उच्च पद के कारण मुझसे डरता था; परन्तु अब सभी सैनिक समय समय पर आवश्यक सलाह लेने के लिए निरसंकोच और निर्भय होकर मेरे पास चले आते हैं। मेरे प्रति सम्मान में कोई कमी नहीं आई है। यही मेरी प्रसन्नता का रहस्य है।”

सिकन्दर :- “फिर भी उच्च पद छूट जाने से कुछ दुःख तो आपको होता ही होगा न ?”

सेनापति :- “जी नहीं, मुझे कोई दुःख नहीं है। वेतन तो हाथ का मेल है। अधिक मिलेगा, अधिक खर्च होगा। कम मिलेगा, कम खर्च होगा। पद पर रहकर भी जो आदमी रिश्तत लेता है- अपने स्वार्थ के लिए लोगों को परेशान करता है - कर्तव्य का निर्वाह नहीं करता, उसे सम्मान नहीं मिल सकता। सम्मान की प्राप्ति के लिए पद नहीं, मानवता आवश्यक है।”

इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर सिकन्दर ने उसे फिर से सेनापति पद पर नियुक्त कर दिया।

सेनापति ने मानवता के महत्त्व का समझा था और उसे आत्मसात् किया था; इसीलिए वह ऊँची-नीची हर स्थिति में हँसमुख रहता था।

जिसमें मानवता होती है, वह गुस्सा नहीं करता। यदि गुस्सा आ भी जाय तो वह किसी का बुरा नहीं सोचता। यदि कोई बुरा विचार उठ भी आय तो उसे मुँहपर नहीं लाता (बुरी बात मुँह से बोलता नहीं) और यदि असावधानी वश बुरी बात मुँह से कभी निकल जाय तो लज्जित होकर सिर झुका लेता है। यह भाव इस प्राकृत भाषा में रचित आर्या छन्दमें किसी ने बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रकट कर दिया है। देखिये :-

“सुयणो न कुप्पइन्विअ  
अह कुप्पइ विप्पियं न चिन्तेई ।  
अह चिन्तेइ न जम्पइ  
अह जम्पइ लज्जिओ हवइ ॥”

जिसमें विद्या होती है, उसमें मानवता भी होगी ही ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किसी शायर ने कहा है :-

‘आदमीयत और? शै है  
उइल्म है कुछ और चीज ।

कितना तोते को पढाया  
पर ४ वों हैर्द वाँ ही रहा !

तोता भले ही मुँखसे “राम राम” बोलता रहे; किन्तु वह नहीं जानता कि राम कौन थे और उनमें कौण-कौण से गुण थे - इसलिए वह उन गुणों का पालन भी नहीं कर सकता । गुणों को जीवन में उतारे बिना कोई आदमी नहीं हो सकता :-

“मानता हूँ— हों फरिश्ते शेखजी  
आदमी होना मगर दुश्वार है !”

काँई व्यक्ति फरिश्ता (देव) हो सकता है, परन्तु आदमी (मानव) होना बहुत कठिन है । इस शेर में मनुष्यता को ही दुर्लभ बताया गया है । मानवता हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिये ।

एक विद्यालय में निरीक्षक महोदय पहुँचे । विद्यालय की सर्वोच्च कक्षा में जाकर छात्रों के सामने एक प्रश्न रखवा :- “तुम विद्यालय में पढने क्यों आते हो ?”

इस प्रश्न का सब छात्रों से लिखित उत्तर माँगा गया । प्रत्येक छात्र ने उत्तर लिखकर अपना कागज निरीक्षक महोदय को दे दिया ।

प्राप्त उत्तरों में से कुछ ये थे :-

“इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अधिक समय चाहिये ।”

“इस प्रश्न का उत्तर हमारी पाठ्यपुस्तक में कहीं नहीं मिलत;”

“यदि आप इसका उत्तर जानते है तो हमसे क्यों पूछते है ?”

“मे आपके समान निरीक्षक बनना चाहता हूँ ।”

“मे डाक्टर बनना चाहता हूँ ।”

“मे इंजीनियर बनना चाहता हूँ ।”

“मे बैरिस्टर बनना चाहता हूँ ।”

“मे मिनिस्टर बनना चाहता हूँ ।”

“मे मास्टर बनना चाहता हूँ ।”

- 
१. मानवता ।      ३. विद्या      ५. पशुता वाला प्राणी  
२. वस्तु ।      ४. वह

“में मनुष्य बनना चाहता हूँ और मनुष्यता क्या चीज है ? उसे समझने के लिए विद्यालय में पढ़ने आता हूँ ।”

कहने की आवश्यकता नहीं कि अन्तिम उत्तर को सर्व श्रेष्ठ माना गया और जिसने वह उत्तर दिया था, उसे पुरस्कार भी दिया गया ।

“विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥”

(विद्या से अमृत का भोग किया जाता है ।)

वह अमृत मानवता ही है !

## अहंकार और ममता

अहंकार और ममता मोहराजा के दो महामन्त्री हैं। जहाँ नमस्कार है, वहाँ साधना है और जहाँ अहंकार है, वहाँ विराधना है। इसी प्रकार समता से साधना और ममता से विराधना का सम्बन्ध है।

जीवन रूपी दूध को अहंकार की फिटकरी का टुकड़ा फाड़ देता है। इससे विपरीत नमस्कार या विनयधर्म रूपी मिश्री का टुकड़ा जीवनरूपी दूध को मधुर बना देता है।

ब्राह्मली ने दुष्कर तप किया था; किन्तु मन में अहंकार था; इसलिए केवलज्ञान प्राप्त न हो सका। फिर ब्राह्मी और सुन्दरी नामक अपनी साध्वी बहिनों से जब यह सुना :-

“वीरा ! म्हारा गज थकी उतरो  
गज चढयाँ केवल न होय ॥”

(हे मेरे भाई ! हाथी से नीचे उतरो; क्योंकि जो हाथी पर बैठा रहता है, उसे केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।)

तब तपस्यारत महामुनि को यह समझ में आया कि मैं जिस हाथी पर सवार हूँ, वह सूँडवाला पशु नहीं, किन्तु अहंकार है, जो मेरे केवलज्ञान में बाधक है। मेरी इस तपस्या के मूल में ही अहंकार है। मैं अपने पूर्वदीक्षित भाइयों को वन्दन करने से बचने के लिए तपस्या के द्वारा केवलज्ञान पाने के प्रयत्न में लगा था। ये साध्वी बहिनें ठीक ही कह रही हैं। मुझे अहंकाररूपी हाथी से नीचे उतरना ही होगा।

ऐसा सोचकर अपने दीक्षित लघु भ्राताओं को वन्दन करने के लिए ज्यों ही उन्होंने कदम बढ़ाया कि तत्काल उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

इसी प्रकार गणधर भगवंत गौतमस्वामी के केवलज्ञान में ममता बाधक थी। उनमें अहंकार तो बिल्फुल नहीं था; परन्तु प्रभु महावीर के प्रति राग था - तीव्र अनुराग था - ममता थी। यही कारण है कि प्रभु का निर्वाण होने के बाद वे रोने लगे। फिर चिन्तनने पलटा खाया। रुदन की व्यर्थता समझ में आई। परमात्मा की वीतरागता की पहिचान हुई और तब केवलज्ञानी बने।

आत्माकी भी पहिचान न होने से कैसी दुर्दशा होती है ? एक दृष्टान्त द्वारा यह बात स्पष्ट होगी।

एक बुढिया शहर से अपने गाँवकी ओर जा रही थी । चलते-चलते शाम होने लगी । तभी सामने से आनेवाले एक मुसाफिर ने उससे कहा- माताजी ! लौट चलिये । आगे घोर जंगल है । दिन अस्त होने पर जंगल में रात का राजा आपको मार डालेगा ।”

बुढिया तो उस मुसाफिर के साथ पास के एक अन्य गाँव में चली गई; परन्तु मुसाफिर की कही हुई बात वहीं पास की झाड़ी में छिपा हुआ एक सिंह सुन रहा था । वह सोचने लगा कि जंगल का राजा तो मैं ही हूँ, पर यह “रात का राजा” कौन है ? पता नहीं, वह कैसा है- कितना बलवान् है ।

कुछ ही समय बाद अपने खोये हुए एक गधे को ढूँढता हुआ कोई कुम्भकार वहाँ आ पहुँचा । अंधेरे के कारण सिंह को गधा समझकर उसने उसकी पीठपर लाठी का एक प्रहार किया । सिंह ने समझा कि यही है रातका राजा ! अन्यथा मुझपर प्रहार करने का साहस कौन कर सकता है ?

फिर कुम्भकार सिंह को घसीटकर अपने घर के बाड़े में ले गया और उसे अपने अन्य गधों के साथ खूट से बाँध दिया । प्रातःकाल कुम्भकार की पत्नी ने जब सिंह को देखा तो उसके मुँह से चीख निकल गई । चीख से जागकर कुम्भकार भी वहाँ आया और गधों के टोले में सिंह को देखकर थर थर काँपने लगा ।

सिंह को समझमें आ गया कि जंगल का राजा भी मैं ही हूँ और रातका राजा भी । बन्धन तुड़ाकर वह पुनः जंगल में चला गया । स्वतन्त्र हो गया ।

हमारी आत्मा भी गधों के टोले में बँधे हुए सिंह के समान है उसमें प्रभु महावीर की तरह ही अनन्त ज्ञान-दर्शन पाने की शक्ति है; परन्तु हम संसारी जीवों के साथ अनादिकाल से रहने के कारण अपने स्वरूप को नहीं पहिचानते । यही दुःख का प्रमुख कारण है ।

आत्मा की पहिचान से भ्रम का परदा हट जाता है ।

मनुष्य भव साधना के लिए मिला है- लोक और परलोक सुधारने के लिए मिला है, बिगाडने के लिए नहीं । अहंकार और ममता के कारण पाप करते समय प्राणी यह भूल जाता है कि मैं अकेला आया था अकेला ही जानेवाला हूँ :-

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे

भार्या गृहद्वारि जनः श्मशाने ।

देहश्रितायां परलोक मार्गे

कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥

[धन जमीन में (पहले बैंक नहीं थे । धन जमीन में गाड़ दिया जाता था ।), पशु बाड़े में, पत्नी घरके दरवाजे तक, कुटुम्बी श्मशान तक और शरीर चिता तक ही अपने साथ रहता है । उसके बाद कर्मों की गठरी उठा कर जीव अंकला ही जाता है । दूसरा कोई भी उसके साथ नहीं जाता ।]

मोहान्ध बिल्वमंगल मुर्दों को तैरता हुआ लकड़ी का पटिया समझता है और विषधर साँप को रस्सी ! वह भूल जाता है कि जिस रूप रंग और यौवन पर मैं आसक्त हूँ, वह नश्वर है ।

अहंकार रूपी वृक्ष पर ममता की हरियाली छाई रहती है और दुर्गुण रूपी विविध पक्षी वहाँ आकर अपने घोंसले बना लेते हैं ।

ऐसी स्थिति में सद्गुरुदेव का सत्संग ही सद्गुणों की सुगन्ध से जीवन को सुवासित कर सकता है । ममता के स्थान पर समता की स्थापना कर सकता है । अहंकार के स्थान पर नमस्कार महामन्त्र को प्रतिष्ठित कर सकता है ।

चातुर्मास में जिस प्रकार कृषक धरती की खेती करता है, उसी प्रकार धार्मिक जीव आत्मा की । आत्मा को कोमल बनाने के लिए वह सामायिक करता है, जो साधना का प्रथम सोपान है ।

स्थिर दीर्घशखा सुन्दर लगती है । स्थिर मनोवृत्ति भी उससे कम सुन्दर नहीं होती । मन को शान्त और स्थिर करने के लिए सामायिक की जाती है ।

समुद्रतल में डुबकी लगाकर गोताखोर जिस प्रकार मोती प्राप्त करता है, उसी प्रकार साधक सामायिक द्वारा अन्तःकरण में डुबकी लगाकर शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है । मोती पाने पर जितना आनन्द गोताखोर को मिलता है, उससे अनंत गुना अधिक आनन्द आत्मदर्शन से होता है ।

सामायिक का साधक चरबीवाले वस्त्र, काँडलीवर आईल, कुम के बूट आदि हिंसाजन्य साधनों का उपयोग नहीं करता । उसका आदर्श होता है - “साधा जीवन उच्च विचार !” वह शरीरको नहीं, आत्मा को ही अलंकृत करने का ध्यान रखता है । उसके मुखमंडल पर ब्रह्मचर्य का तेज होता है । उसके जीवन में पवित्रता की सुगन्ध होती है । कारुण्य भाव उसके अन्तस्थल से छलकता रहता है ।

सामायिक में बैठे हुए महाराज कुमारपाल को एक मकोड़े ने काट लिया । चमड़ी में मकोड़ा अपनी अगली टाँग इस तरह चुभो देता है कि

यदि उसे हटाया जाय तो वह टूट जाता है- मर जाता है । करुणाद्रं कुमारपाल ने उसके दंशकी वेदना सह ली । इतना ही नहीं, बल्कि मांससहित अपने शरीर की वह चमड़ी काट कर अलग कर दी । इस प्रकार उसे खुराक सहित अभयदान किया ।

चरमतीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने एक बार पूणिया श्रावक की सामायिक के फल की प्रशंसा की थी । महाराज श्रेणिक उस श्रावक की एक सामायिक का फल पाने के लिए अपना समस्त राज्यवैभव छोड़नेको तैयार हो गये थे, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली । इससे जाना जा सकता है कि सामायिक का स्थान कितना ऊंचा है

कष्टों को जो शान्तिपूर्वक सहन करता है, वही कुटिल कर्मों का दहन कर सकता है । बाईस परीस हों और विविध उपसर्गों को शान्तिपूर्वक सहन करके ही प्रभु महावीर कर्म निर्जरा के द्वारा आत्मशुद्धि कर संक केवलज्ञान पा सके मोक्ष में जा सके ।

पृथ्वी सहन करती है, इसीलिए फसलें पैदा करने में सफल होती है । माता सहती है, इसीलिए पूजनीया मानी जाती है । पत्थर सहता है (छेनी के प्रहार), इसीलिए प्रतिमा के रूप में अर्चित होता है । साधु सहता है; इसीलिए सम्माननीय बनता है ।

महात्मा सुकरात की पत्नी झंथापी बड़ी कर्कशा थी । एक दिन क्रोध होकर वह बकझक करने लगी । उसके शब्दों पर उपेक्षा करके महात्माजी एक पुस्तक पढ़ते रहे । इससे वह और अधिक चिड़ गई । थोड़ी देर बाद पुस्तक रखकर जब वे घर से बाहर निकलने लगे, तभी रसोई घर का गन्दा पानी बाल्टी में भर कर पत्नी ने उनके शरीर पर उड़ेल दिया ।

इस पर महात्मा सुकरात ने हँस कर कहा :- “बादल पहले तो गरजे और फिर बरस पड़े !”

इससे पत्नी का गुस्सा शान्त हो गया और वह भी खिलाकर हँस पड़ी। यह था सहनशीलता का चमत्कार !

कहने का तात्पर्य यह है कि नमस्कार के द्वारा अहंकार पर और सामायिक से प्राप्त सहिष्णुता या समता के द्वारा ममता पर विजय पाकर ही साधक अपनी आध्यात्मिक साधना में सफल होता है; अन्यथा नहीं ।

## कुछ पर्व

प्रभु ऋषभदेव को बारह महीनों तक शुद्ध आहार नहीं मिला । धैर्य के साथ क्षुधा परीषह वे सहते रहे । इस तपस्या से कर्मक्षय का सहज अवसर मिला रहा है- यह मानकर मन-ही-मन वे सन्तोषामृत का पान करते रहे ।

अन्तमें वैशाख शुक्ला द्वितीया की रात्रि को देखे एक स्वप्न के अनुसार श्रेयांसकुमार ने तृतीया को गन्ने के रस से उन्हें पारणा कराया । तब से वर्षीतप के पारणे इसी अक्षय तृतीया के दिन होते हैं । वर्षी तप धैर्य और समता का रसायन है । तप से शरीर भले ही क्षीण हो जाय, परन्तु आध्यात्मिक गुणों में वृद्धि के कारण मुखमण्डल पर तेजस्विता छा जाती है ।

भगवान् महावीर ने अपने जीवन के अन्तिम सोलह प्रहर तक अखण्ड देशना दी । वह देशना उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीस अध्ययनों के रूप में आज भी हमारे सामने मौजूद है ।

ब्राह्मण देवशर्मा को प्रतिबोध देने के लिए प्रभु ने अन्तिम समय में अपने प्रिय शिष्य गौतम को भेज दिए । आज्ञा, विनय और अनुशासन के मूर्तरूप गौतमस्वामी चले गये और इधर दीपक का निर्वाण हो गया । ज्ञान ज्योति बुझने पर लोगोंने दीपक प्रज्वलित किये । घरों में दीपक की कतारें लगा दीं; इसीलिए वह दीपावली कहलाई ।

प्रभु ने निर्वाण पाया- ऐसा सुनते ही गौतम स्वामी छोटे बच्चे की तरह रोने लगे । उनके आँसुओं से उनके मन का राग धुलने लगा । रातभर चिन्तन करते रहे और प्रातः काल होते ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया । इस प्रकार सर्वत्र हर्ष छा गया । महावीर स्वामी के बाद गौतमस्वामी के रूप में उस दिन समाज को नया धर्मोपदेशक मिल गया था ।

यद्यपि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना के लिए कोई निश्चित तिथि नहीं होती, निरन्तर इन गुणों की साधना की जा सकती है; फिर भी श्रुतज्ञान की आराधना के लिए आचार्यों ने वर्ष में एक तिथि निर्धारित कर दी है, जिसे “ज्ञानपञ्चमी” कहते हैं ।

उस दिन तीन प्रकार से ज्ञान की पूजा की जाती है :-

- (क) ज्ञान के साधक की पूजा
- (ख) ज्ञान के साधनों की पूजा
- (ग) ज्ञान की पूजा



ज्ञानियों को वन्दन करना पहला प्रकार है । इससे हमें भी ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है ।

ज्ञान धर्मग्रन्थों के रूप में हमारे पास सदा उपलब्ध रहता है । गुरुदेव तो विहार करके अन्यत्र चले जाते हैं; परन्तु ग्रन्थ कहीं नहीं जाते । वे ज्ञानप्राप्ति के साधन हैं। उन्हें संभालना उन पर जिल्द चढ़ाना, उन्हें सुरक्षित स्थान पर रखना, उन पर धूल न बैठने देना- कीड़े न लगने देना हमारा कर्तव्य है । चातुर्मास में बरसात के कारण वातावरण में नमी (गीलापन) होने से पुस्तकें भी प्रभावित होती हैं; इसलिए चातुर्मास के बाद (धूप तेज होती है, उसका उपयोग कर के) ज्ञानभंडार (ग्रन्थागार) का प्रतिलेखन किया जा सकता है । यह दूसरा प्रकार है ।

पुस्तकें प्रकाशित करना, उन्हें स्वयं पढ़ना और दूसरों को पढ़ने के लिए भेंट करना, जो ज्ञान हमने प्राप्त किया है, उसे चर्चा द्वारा, प्रवचन द्वारा अथवा पुस्तकें लिखकर दूसरोंको परोसना ज्ञानपूजा का तीसरा प्रकार है ।

तीनों प्रकारों से ज्ञान की आराधना करना ज्ञानपञ्चमी मनाने का उद्देश्य है।

संक्षेप में अक्षय तृतीया, दीपावली और ज्ञानपंचमी - इन तीन पर्वों का परिचय देने के बाद चौथे पर्व कार्तिक पूर्णिमा पर थोड़ी विस्तृत चर्चा करेंगे ।

कार्तिक पूर्णिमा को तीन कारणों से महत्त्व प्राप्त हुआ है । उस दिन श्रावक-श्राविकाओं का समूह महातीर्थ शत्रुंजय की यात्रा करता है । प्रातःकाल चार बजे से ही सिद्धाचल की तलहटी पर प्रबल उत्साह और हर्षोल्लास से एकत्र युवकों और युवतियों ही नहीं, बच्चों और बूढ़ों तक की भीड़ में भक्ति भावना देखकर भला किसका हृदय गीला नहीं हो जाता

सिद्धाचलजी की यात्रा क्या है ? मानो सिद्धशिला की ही यात्रा है वह ! जहाँ पहुँच कर अनन्त यात्रियों ने अपने भावों को पवित्र किया है - तपस्या से कर्मनिर्जरा कर के परमपद (मोक्ष-धाम) पाया है और जहाँ के मंगलमय पुद्गलों के स्पर्शमात्र से रोमांचित शरीर के अन्तःकरण में धर्मध्यान की पावन सुरसरिता प्रवाहित होने का अनुभव सभी भव्यजनों को होता रहा है और आज भी होता है ।

दूसरा कारण है- साधु साध्वियों का विहार । वे मुक्त विहारी होते हैं। किसी स्थान विशेष पर उन की आसक्ति नहीं होती । कहावत है : -

बहता पानी निर्मला  
बँधा सो गन्दा होय  
साधू तो रमता भला  
दाग न लागे कोय ॥”

इसलिए चातुर्मास समाप्त हो जाने के कारण उस दिन सभी पंचमहाव्रतधारी साधु-साध्वी अन्यत्र विहार कर जाते हैं ।

तीसरा कारण है - कलिकालसर्वज्ञ ३ क्रोड़ श्लोक के रचयिता धुरन्धर विद्वान् जैनाचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजी का जन्मदिन ।

संवत् १९४१ की कार्तिक पूर्णिमा को जन्म लेनेवाले हेमचन्द्रचार्यजी की दीक्षा संवत् १९५४ में माघशुद्ध १४ को हुई थी । जन्म नाम चांगदेव था। दीक्षा के समय मुनिश्री सोमचन्द्र रक्खा गया; किन्तु संवत् १९६६ में सूरिपद प्राप्ति के समय से उन्हें श्री हेमचन्द्राचार्य कहा जाने लगा ।

वे अत्यन्त प्रतिभाशाली थे । नौ वर्ष की अवस्था में प्रव्रजित हुए और जीवनभर वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी बने रहे । उन्होंने अपने गुरुदेव से शास्त्रों का गहरा अध्ययन किया । उनके प्रबल पाण्डित्य का तत्कालीन सभी विद्वान् लोहा मानते थे ।

उन्होंने विपुल एवं विविध साहित्य की रचना की थी । व्याकरण, कोष, छन्द, काव्यशास्त्र, चरित्र, महाकाव्य आदि सभी विद्याओं पर आपने सफलतापूर्वक मौलिक ग्रन्थ लिख कर गुजरात को ही नहीं, सारे भारतवर्ष को विश्वसाहित्य के मंच पर गौरवान्वित किया है ।

आपका सबसे एक बड़ा ग्रन्थ है - “सिद्धहेम महाकाव्य” । यह विशाल, किन्तु सरल व्याकरण है । पाणिनि के बाद ऐसा व्याकरणकार कोई अब तक नहीं हुआ है । पाणिनीय व्याकरण की तरह इसमें भी आठ अध्याय हैं । पाणिनि ने सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण का और आठवें अध्याय में वैदिक-व्याकरण का समावेश किया है, उसी प्रकार हेमचन्द्राचार्यने भी सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण का और आठवें अध्याय में प्राकृत व्याकरण का समावेश किया है ।

दूसरा ग्रन्थ है- “त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरितम्” इसमें त्रैसठ महापुरुषों के जीवनचरित्रों का छत्तीस हजार श्लोकों में वर्णन किया गया है ।

इनके अतिरिक्त “अभिधानचिन्तामणिः (‘‘अमरकोष’’ की तरह पद्यात्मक शब्दकोष), वीतरागस्तोत्र (‘‘सयाद्वादमंजरीं नामक दर्शनिक ग्रन्थ की व्याख्या), देशी नाममाला (कोष), योगशास्त्रम्, वक्रयानुशासनम् (साहित्यशास्त्र), छन्दोऽनुशासनम्, द्वयाश्रयमहाकाव्यम्, परिशिष्टपर्व, शब्दानुशासनम्, अनेकार्थसंग्रहः’’ (कोषग्रन्थः) आदि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं ।

पूर्णिमा को जन्म लेकर आचार्य श्री ने जीवन में पूर्णता प्राप्त की, गुजरात में अहिंसा धर्म का व्यापक प्रचार किया और महाराजा सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल भूपाल के जीवन को धार्मिक दिशा में मोड़ दिया । श्रीकृष्ण के उपादेश को जिस प्रकार अर्जुन ने ग्रहण किया था, उसी प्रकार हेमचन्द्राचार्यके

उपदेश को कुमारपाल भूपाल ने ग्रहण किया और “परम आर्हत” का पद प्राप्त किया ।

आचार्यश्री के उपदेश से प्रभावित होकर कुमारपाल ने जैन धर्म की प्रभावना की, दुराचार का त्याग किया, जिनमन्दिरों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार कराया, अमारी घोषणा (“कोई किसी पशुपक्षी की हत्या न करे” - ऐसी राजाज्ञा जारी की तथा धूम धाम से उत्साह के साथ अनेक बार तीर्थयात्राएँ की । इन सब कार्यों के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि स्थान-स्थान पर ज्ञानभण्डार (जैन धर्म के ग्रन्थों का संग्रह) स्थापित किये, जिन की कुल संख्या इकीस थी ।

जैन धर्म का सूर्य के समान सर्वत्र प्रकाश फैलाने वाले जैनाचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने संवत् १२२९में अर्थात् अठ्ठ्यासी (८८) वर्ष की अवस्थामें संलेखना के साथ शान्तिपूर्वक अपने जर्जर नश्वर शरीर का परित्याग किया ।

उनके चिरवियोग से पूरा जैनजगत् शोकमग्न हो गया था; फिर भी उनके ग्रन्थों का अध्ययन करते समय ऐसा लगता है कि वे आज भी हमारे समाने मौजूद हैं, जीवीत हैं, अमर हैं ।

## सम्यक्त्व

विवेक आत्मा का मित्र है, मिथ्यात्व उसका शत्रु । तत्त्वार्थ सूत्र में :-

मिथ्यादर्शनाविरति प्रमादकषाययोग बन्धहेतवः

॥ अध्याय ८ सूत्र १ ॥

(मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग- ये कर्मबन्ध के कारण माना है ।)

ऐसा लिखकर वाचक प्रवर उमास्वाति ने मिथ्यात्व को कर्मबन्ध का कारण माना है ।

मिथ्यात्व के दो रूप होते हैं । पहला है - यथार्थ पर अश्रद्धा और दूसरा है - अयथार्थ पर श्रद्धा ।

दोनों में अन्तर यह है कि पहला बिल्फुल मूढ अवस्था में भी हो सकता है, किन्तु दूसरा विचार दशा में ही हो सकता है । पहला अनभिगृहीत मिथ्यात्व है, जो कीट पतंगों में या उने समान मूर्छित चेतना वाली जातियों में हो सकता है; परन्तु दूसरा अनभिगृहीत मिथ्यात्व कहलाता है । यह मनुष्य जैसे मननशील प्राणी में ही संभव होता है । जो विचार करता है, वही किसी पर श्रद्धा कर सकता है - भले ही वह (श्रद्धेय) यथार्थ हो या अयथार्थ ।

शंका करना मिथ्यात्व नहीं है, किन्तु शंका मन में रखना मिथ्यात्व है । गीतार्थ गुरुदेव के सामने प्रश्नों के रूप में अपनी शंका प्रस्तुत कर के उसका समाधान प्राप्त कर लेना चाहिये । इसके बाद जो यथार्थ श्रद्धा उत्पन्न होगी, वही सम्यक्त्व का हेतु बनेगी । उसी से आचरण की प्रेरणा मिलेगी ।

धार्मिक व्यक्ति, घर में हो या जंगलमें, कभी अकेलापन महसूस नहीं करता । धर्म या सम्यक्त्वरत्न ही उसका साथी बन जाता है । उसके मन, वचन और वर्तन में एकता होती है :-

मनस्येकं वचस्येकम्

कर्मण्येकं महात्मनाम् ।

मनस्यन्यद्ब्रह्मस्यन्यत्

कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥

(महात्माओं के मन, वचन और कार्य में एकता होती है, किन्तु दुर्गत्माओं के मन, वचन और कार्य में भिन्नता होती है)

सज्जन जैसा सोचते हैं, वैसा ही बोलते हैं और जैसा बोलते हैं, वैसा ही करते हैं; परन्तु दर्जन सोचते कुछ हैं, कहते कुछ दूसरा ही हैं और करते कुछ तीसरा ही है; इसीलिए वे विश्वासपात्र नहीं हो पाते ।

अनुभवी सज्जनों के वचन जीवन को प्रकाश देते हैं - नई दिशा दिखाते हैं- मार्गदर्शन करते हैं; अतः प्रतिदिन कुछ समय सत्संग के लिए निकालना चाहिए ।

जगत् में धनिक भी दुःखी है और निर्धन भी । एक अधिक खाकर मरता है और दूसरा भूखों मर जाता है; परन्तु ज्ञानी सज्जन को छाड़ कर कोई सुखी नहीं है ।

### “तिन्नाण तारयाण”

ज्ञानी स्वयं तेरा ही है, दूसरों को भी तेरा ही है । ज्ञान के साथ क्रिया भी जरूरी है :-

### ज्ञानक्रियाम्यां मोक्षः ॥

ज्ञान और क्रिया के दो पखों पर उड़कर ही सज्जन रूपी पक्षी मोक्ष तक पहुँचता है । ज्ञान की लौ के साथ ज्ञानी क्रिया का तेल भरना नहीं भूलते । क्रिया अथवा सदाचार रूपी तेल के बिना ज्ञान का दीपक कब तक टिमटिमाता रहेगा ?

ज्ञान की तृप्ति क्रिया के आहार (सदाचार) से ही होती है । ज्ञान पद्म की पवित्र वाणी के श्रवण से आता है । वाणी ज्ञानी गुरुदेव सुनाते हैं । वाणी सुनकर उसके अनुसार आचरण किया जाय तो आत्मा उन्नति के उत्तम शिखर पर चढ़ने लगती ।

पद्म की पवित्र वाणी जहाँ बरसती हो, वहाँ तत्काल उससे मस्तिष्करूपी टंकी भर लेना चाहिए । फिर गुरु वियोग होने पर (विहार कर जाने पर) टंकी खोली जाय और ज्ञान रस का उससे पान किया जाय । गुरुदेव के अभाव में उनके प्रवचनों के सकलन पुस्तकों के रूप में उपलब्ध हो तो अवकाश के समय उनका बार- बार स्वाध्याय किया जा सकता है इस प्रकार उपदेशामृत में मन को नहलाकर उसे पवित्र करने का प्रयास सभी कर सकते हैं, जिससे सम्यक्त्व का सज्जन हो और मिथ्यात्व का विसर्जन।

जड़ हीरा परखने की योग्यता पाने के लिए जौहरों को हजार दिन लगे जाते हैं तो सचेतन आत्मा को परखने की योग्यता क्या आसानी से मिल जायेगी ? स्वातन्त्र्य परीक्षा उत्तीर्ण कर के उपाधिधारी (एम.ए.) बनने के

लिए यदि सोलह वर्ष लग जाते हैं तो सम्यक्त्वधारी बनने के लिए चार पाँच वर्ष भी नहीं लगेंगे क्या ? यदि आप प्रतिदिन केवल दो गाथाएँ समझकर कण्ठस्थ करने का नियम बना लें तो पाँच वर्षों की अवधि में साठे तीन हजार से अधिक गाथाएँ आपके मस्तिष्क में संकलित हो जायेंगी। “बूँद-बूँद से घड़ा भरता है” यह कहावत आप के जीवन में चरितार्थ हो जायेगी । आप श्रुतध्यासी बन जायेंगे ।

आप का श्रुतज्ञान आपको आचरण की प्रेरणा देगा । इस प्रकार सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व), सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चरित्र आपके जीवन को भूषित करेगा।

पहले भौतिक सुखसामग्री उतनी नहीं थी, जितनी आज है; फिर भी उन लोगों का जीवन सुखी था - शान्त था; परन्तु आज सामग्री सैकड़ों गुनी हो गई है; फिर भी सुख-शान्ति का अभाव है । सुख भीतर रहता है । बाहर दौड़-धूप करने से वह नहीं मिल सकता । दूर से सुख दिखाई देता है; परन्तु निकट जाने पर निराश होना पड़ता है; रात को सड़क पर प्रकाश देखकर एक बुढ़िया वहाँ आई और कुछ ढूँढने लगी । पूछने पर उसने बताया कि मैं अपनी सुई ढूँढ रही हूँ । लोगों ने पूछा :- “कहाँ खोई थी सुई ?”

बुढ़िया :- “घर में खोई थी !”

लोग :- “तो उसे घर में क्यों नहीं ढूँढ रही हो ?”

बुढ़िया :- “इसलिए कि घर में प्रकाश नहीं है !”

बुढ़िया की मूर्खता पर हमें हँसी आती है; परन्तु भीतर सुख न देखकर उसे बाहर खोजनेवाले हम भी उस बुढ़िया से किसी तरह कम मूर्ख नहीं ठहरते !

सहिष्णुता और क्षमा में ही मानसिक शान्ति का निवास होता है । एक व्यक्ति किसी ज्ञानी को क्रुद्ध करने के प्रयास में मनमानी गालियाँ बकता रहा - निन्दा करता रहा - आरोप लगाता रहा; किन्तु ज्ञानी शान्तिपूर्वक सहता रहा । जब बकझक करके वह चुप हुआ, तब ज्ञानी ने उसे जल से भरा हुआ एक लोटा देते हुए कहा :- “लो भैया ! यह जल पी लो। बहुत देर से भाषण कर रहे हो । गला सूख गया होगा ।”

यह सुनकर वह व्यक्ति पानी-पानी हो गया । जल पीने के बाद उसे विचार आया कि यह तो मुझे पराजित करने की एक चाल मात्र है । मैं इस चाल में क्यों फँसूँ

फलस्वरूप वह और भी जोरों से चिल्लाने लगा । ज्ञानी मुस्कराता

रहा । दिन अस्त हुआ । वह आदमी बोलते-बोलते थक कर चुप हो गया। ज्ञानी ने प्रेम से भोजन कराया, उपहार दिया और जब वह बिदा होने लगा, तब अपने पुत्र को साथ भेज दिया कि वह सुरक्षित रूप से उसे उसके घर पहुँचा आये। क्षमा के कारण क्रोधी हमंशा के लिए संत बन गया । पारस पत्थर के संपर्क से लोहा भी सोना बन गया ।

ऐसी ही एक घटना गालिब के जीवन की है । मौलवी अमीमुद्दीन ने सुप्रसिद्ध शायर मिर्जा गालिब के विरुद्ध एक किताब लिखी । उसे देखकर किसी ने उनसे पूछा :- “हजरत ! आपने उस किताब का कुछ जवाब नहीं लिखा ?”

इस पर गालिब ने कहा :- “अगर कोई गधा तुम्हें लात मारे तो क्या तुम भी उसे लात मारोगे ?”

जो समर्थ होता है- वीर होता है, वही क्षमा का परिचय दे सकता है :-

समाज में रहने पर ही आपके सगुण कसौटी पर उतरेंगे । एकान्त गुफा में जहाँ क्रोध का अवसर ही नहीं आता, वहाँ यह नहीं जाना जा सकता कि आप अक्रोधी हैं-शान्त हैं-क्षमाशील हैं । व्यवहार ही वह दर्पण है, जिसमें आपका स्वभाव दिखाई देता है ।

जीभ चाहे जितना घी खाले, परन्तु वह चिकनी नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञानी संसार में रहकर भी उसमें आसक्त नहीं होता । जल में कमल के समान अलिप्त रहता है । संयम और तप से वह अपनी आत्मा को पवित्र करता रहता है :-

“संजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ ॥”

अज्ञ अवस्था में बांधे गये कर्म सुज्ञ अवस्था में भोगे जाते हैं । “जब मैं सो जाऊँ तब संगीत बन्द करवा देना” ऐसा आदेश त्रिपृष्ठ वासुदेव ने सेवक को दिया था; परन्तु सेवक भूल से इस आदेश का पालन नहीं कर पाया । क्रुद्ध होकर वासुदेव ने उसके कानों में सीसा डलवा दिया । फिर महावीर के भव में जब कानों में कीले ठोके जा रहे थे, तब पूर्वभव में कृत कर्म का स्मरण करके प्रभु शान्त रहे । ज्ञान ने उन्हें क्षमाशील बना दिया था । सभी सगुणों का कारण सम्यक्त्व है ।

## जीवन विकास

पूर्वाचार्यों ने कहा है :-

“मा सुयह जगिगअब्बं,  
पलाइयव्वम्मि कीस वीसमह ।  
तिण्णि जणा अणुलग्गा  
रोगो य जरा य मच्चू य ॥”

[मत सोओ, जागते र्हो । जहाँ तुम्हे भागना चाहिये, वहाँ तुम विश्राम कैसे कर रहे हो ? रोग, जरा (बुढापा) और मृत्यु-ये तीन लोग तुम्हारा पीछा कर रहे हैं ]

यदि कोई एक दुष्ट भी हमारा पीछा कर रहा हो तो उससे बचने के लिए हम भागते हैं, फिर जहाँ तीन-तीन दुष्ट हमारे पीछे पड़े हों तो हम विश्राम करने की भूल कैसे कर सकते हैं ?

परन्तु हो यही रहा है । इस भूल का अहसास हमें गुरुदेव कराते हैं । वे सावधान करते हैं और पुरुषार्थ करने की सलाह देते हैं ।

जीवन प्राप्त करना सरल है जो प्राणी जन्म लेता है, उसे जीवन तो मिल ही जाता है; परन्तु उस जीवन को शुद्ध बनाये रखना-वैराग्य और संयम के प्रयोग से उसे विकसित करने का प्रयास करना आसान कार्य नहीं है । पानी में नाव रहे तो कोई बात नहीं; परन्तु नाव में पानी नहीं रहना चाहिये; अन्यथा वह डूब जायेगी ।

शास्त्राकार कहते हैं :-

जहा पडमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ॥

जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होता है, फिर भी जल से निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार संसार में उत्पन्न होकर भी ज्ञानी संसार से लिप्त नहीं होता-संसार के भौतिक कामभोग के क्षणिक सुखों में आसक्त नहीं होता । वह समझता है कि जीव प्रवासी है, वासी नहीं । संसार में कितनी भी सम्पत्ति संचित क्यों न कर ली जाय ? वह सब एक दिन छूट जायेगी । मृत्यु आने पर दिनरात निकट रहने वाली पत्नी भी मुर्दे शरीर के पास बैठना पसंद नहीं करती-शरीर भी जीव के साथ नहीं जाता; फिर भला यह सम्पत्ति कैसे साथ रह सकती है ?



जीवन क्षणभंगुर सपने जैसा है । सपना घंटे-दो घंटे का होता है और जीवन साठ-अस्सी अथवा अधिक से अधिक सौ-सवा सौ वर्ष का ! यही दोनों में अन्तर है । इस जीवनरूपी सपने का अधिक से अधिक सदुपयोग करने वाला ही बुद्धिमान है । प्रभु महावीर ने कहा था :-

**समयं गोयम ! मा पमायए ॥”**

(हे गौतम ! तु क्षण भर भी प्रमाद मत कर)

ज्ञानी तो द्रष्टा हैं-दर्शक हैं । उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलना तो हम को ही पड़ेगा; अन्यथा हम भवसागर को पार नहीं कर सकेंगे :-

**अरिहतो असमत्थो**

**तारिउं जणाण भवसमुद्दिम्मि ।**

**मग्गे देसणकुसलो**

**तरन्ति जे मग्गि लग्गन्ति ॥**

(लोगों को भवसमुद्र से पार ले जाने में अरिहन्त समर्थ नहीं हैं । वे केवल मार्ग दिखाने में कुशल हैं । जो उस मार्ग पर चलते हैं, वे ही पार होते हैं)

किसी विचारक ने कहा है- “यदि कोई अच्छा काम करना है तो आज ही अभी कर डालो और यदि कोई बुरा काम है तो कल तक ठहरो ।”

इसी प्रकार एक अन्य विचारक ने कहा है :- “जो काम कभी भी हो सकता है, वह कभी नहीं हो सकता । जो कभी होगा, वही होगा !”

जो लोग कहते हैं- धर्म तो कभी भी कर लेंगे । वह भाग कर कहाँ जाता है ? बुढ़ापे में उसका पालन कर लेंगे ।’ वे सब भ्रम के शिकार हैं । धर्म के लिए कोई समय निर्धारित नहीं होता । पूरा जीवन ही धर्ममय होना चाहिये; क्योंकि मौत का पता नहीं है । क्या पता वह कब आक्रमण कर दे !

**गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्मसमाचरेत् ॥”**

(मृत्यु ने केश पकड़ रखे हैं -ऐसा सोच कर धर्माचरण करना चाहिए)

बुढ़ापे के भरोसे आप बैठे रहे और जवानी में ही चल बसे तो क्या होगा ? उम्र लम्बी होने से बुढ़ापा आ गया तो भी उसमें धर्म कितना होगा ? उसका मूल्य क्या होगा ? इस पर विचार करते हुए नीतिकार कहते हैं :-

नवे वयसि यः शान्तः  
 स शान्त इति मे मतिः ।  
 धातुषु क्षीयमाणेषु  
 शान्तिः कस्य न जायते ?

(नई अवस्था (जवानी) में जो शान्त (धार्मिक) रहता है, वही सच्चा शान्त है-ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि (बुढ़ापे में) धातुओं के क्षीण हो जाने पर भला कौन शान्त नहीं हो जाता ?)

इन्द्रियों के और आत्मा के स्वभाव में भिन्नता है। मानव जीवन इन दोनों के बीच फँस गया है। इन्द्रियाँ विषयों की ओर आकर्षित होती हैं। उनका मार्ग प्रेय है। बच्चे तो बिस्कुट, टॉफी, चाकलेट और आइस्क्रीम की ओर आकर्षित होते हैं; परन्तु माता समझती है कि इन चीजों से बच्चों का स्वास्थ्य प्रभावित होगा; इसलिए वह उन चीजों से बच्चों को बचाने की कोशिश करती है। माता की तरह गुरुदेव भी इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़नेवाले अज्ञानी मनुष्यों को समझाते हैं और उन्हें आत्मा के श्रेयमार्ग की ओर मोड़ते हैं, जिससे क्षणिक नहीं, स्थायी सुख सबको मिल सके।

वे समझाते हैं-शरीर से नहीं, अपने आप से प्रेम करो। जो अपनी आत्मा से प्रेम नहीं करता, वह दूसरों से भी प्रेम नहीं कर सकता।

जो आत्मा से प्रेम करता है, वह संयमी बन सकता है। उसके सम्पर्क में आनेवाले भी संयमी बन जाते हैं; जैसे एक दीपक से हजारों दीपक जल सकते हैं।

मानव समाज में संगठन का आधार प्रेम है और विघटन का आधार द्वेष। जो फटे हृदयों को जोड़ने का काम करता है, उसका स्थान अपने आप महत्त्वपूर्ण हो जाता है-उच्च हो जाता है।

किसी ने एक दर्जी से पूछा :- आप सुई जैसी छोटी चीजको पगड़ी में रखते हैं और कैची को पैरों में ! ऐसा क्यों करते हैं ?”

दर्जी ने उत्तर दिया :- भाई ! दर्जी अपनी मर्जी से ऐसा नहीं करते; किन्तु अपने गुणों के ही कारण इन्हें उँचा-नीचा स्थान मिलता है। सुई छोटी जरूर है, परन्तु यह सदा जोड़ने का काम करती है; इसलिए इसे पगड़ी में रखा जाता है। इससे विपरीत कैची काटने का-अलग करने का-फूट डालने का काम करती है; इसलिए उसे पैरों के पास रखा जाता है !”

प्रेम से संगठन होता है और संगठन में शक्ति का निवास।

सम्राट् अशोक बड़ी मुश्किल से कलिंग देश पर विजय पा सके थे। उसकी आश्चर्यजनक शक्ति का कारण पूछने पर कलिंग देश ने सम्राट् अशोक से कहा :- राजन् ! मैं प्रत्येक सैनिक को हार्दिक प्रेम देता हूँ । वे भी आपस में प्रेम करते हैं; इसलिए संगठित रहते हैं। यह संगठन ही शक्ति का कारण है ।”

महात्मा गांधी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए एक कवि ने गाया था :-

तुमने अपना प्राण दिया और मौतकी शान बढ़ाई ।  
तुमने अपना खून दिया और प्रेम की ज्योति जलाई ॥”

महात्माजी की अहिंसा और देशवासियों के प्रति उनका हार्दिक प्रेम प्रसिद्ध है ।

खून से खून का दाग नहीं घुलता । उसके लिए प्रेम-जल चाहिये । डाकू रत्नाकर को एक ऋषि के प्रेम ने महर्षि वाल्मीकि बना दिया था। करुणा भी प्रेम का ही एक रूप है । उसमें इतनी कोमलता होती है कि कठोर से कठोर हृदय भी (करुणा से) कोमल बन जाता है । हृदयरूपी पर्वत से सदा करुणा, प्रेम, वात्सल्य और दया का झरना बहता रहे तो इस दुनिया के दुःख नगण्य रह जाँएँ ।

प्रभु कहते थे :-

मित्री मे सव्वभूएसु  
वेरं मज्झं न केणइ ॥”

(मेरी सब प्राणियों से मित्रता है, किन्तु शत्रुता किसी से नहीं है !)

धरती सब के लिए अन्न उत्पन्न करती है- पानी सब की प्यास बुझाता है- हवा सभी प्राणियों को जीवित रखती है-सूर्य सब को प्रकाश देता है-पेड़ सब को फल और शीतल छाया देते हैं-फूल सब को सुगन्ध लुटाते हैं; फिर मनुष्य ही क्यों स्वार्थी और संकुचित रहे ? प्रकृति की तरह मनुष्य के हृदय में भी उदारता, विशालता, प्रेम और परोपकार के दर्शन क्यों न हों ?

जीवनविकास के लिए समस्त दुर्गुणों का त्याग तो जरूरी है ही, साथ ही समस्त सगुणों को अपनाना भी जरूरी है ।

फूल में दुर्गन्ध बिल्कुल नहीं होती और सुगन्ध भरपूर होती है । जीवन भी क्या ऐसा ही एक फूल नहीं है ?

## जीवन का लक्ष्य

कली मुस्कुराती है तो वह विकसित होकर फूल बन जाती है । जीवन विकास के लिए भी प्रसन्नता इसी प्रकार आवश्यक है ।

क्रोधादि कषाय उस प्रसन्नता को नष्ट कर देते हैं । मोह, ममता और विषयासक्ति से भी यही कार्य होता है । शोक, चिन्ता, अन्याय, अत्याचार और भय भी हमारी प्रसन्नता को छीन लेते हैं । निर्बलता और भीरुता से भय उत्पन्न होता है ।

एक शान्तरस के कवि का कथन है कि दुनियाँ में वैराग्य को छोड़कर अन्य समस्त वस्तुओं का सम्बन्ध भय से होता है; क्योंकि जिस वस्तुओंके हम पाना चाहते हैं और पा लेते हैं, उसके नष्ट होने का भय मन में टिका रहता है:-

“सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां”  
वैराग्यमेवाभयम् ॥”

जब श्रीकृष्ण से अर्जुन ने पूँछा कि मन को वश में करने का उपाय क्या है, तब उन्होंने उत्तर दिया :-

“अभ्यासेन तु कौन्तेय !  
वैराग्येण च गृह्यते ॥”

(हे अर्जुन ! अभ्यास और वैराग्य से मन वश में किया जा सकता है)

श्मशान में मुर्दे को भस्म होते देखकर किसे वैराग्य नहीं होता ? कौन नहीं सोचता कि हमें भी एक दिन परिश्रमपूर्वक जोड़ी गई सम्पत्ति छोड़कर अकेले ही जाना होगा ? परिवार का प्रियतम सदस्य भी हमारे साथ नहीं आयेगा ?

“हम-हम करि धन-धाम सँवारे  
अन्त चले उठि रीते !  
मन पछि तै हे अवसर बीते !”

धन, सत्ता, रूप, यौवन, परिवार आदि सब फुलाये हुए गुब्बारे की तरह हैं । हवा निकलते ही सब कान्तिहीन हो जाएँगे । इन पर गर्व करना

१ “नगण्य” इसलिए कि जन्म, जरा, मृत्यु के अनिवार्य दुःख ही रहेंगे; अन्य दुःख नहीं ।

व्यर्थ है। सारा संसार एक सुन्दर धर्मशाला है, जिसमें अमुक अवधि तक हमें रहना है। अवधि समाप्त होते ही पुण्य-पाप की गठरी लेकर हमें अनिवार्य रूपसे आगे बढ़ना होगा। धर्मशाला में स्थायी निवास किसी का नहीं होता :-

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे  
कान्ता गृहद्वारि जनः श्मशाने ।  
देहश्चितायां परलोकमार्गे  
कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥

[धन जमीन में (पहले धन एकान्त स्थल में गाड़कर रखा जाता था), पशु बाड़े में, पत्नी घर के दरवाजे तक, परिवार तथा अन्य बन्धुगण श्मशान तक और अपना शरीर चिता तक साथ आता है अर्थात् ये सब क्रमशः छूटते चले जाते हैं और अन्त में कर्मसहित जीव को अकेले ही यात्रा के लिए निकलना पड़ता है]

जीवन माँगकर लाये हुए गहने की तरह झूठी शान बढ़ाने के अतिरिक्त किसी काम नहीं आता !

परन्तु वैराग्य के ऐसे समस्त विचार श्मशान से घर लौटते ही गायब हो जाते हैं। संसार की क्षणिक वस्तुएँ फिर से मन को आकर्षित करने लगती हैं।

रास्ते से गुजरते हुए किसी फिल्म के पोस्टर पर नजर पड़ते ही उसे देखने की उत्सुकता उत्पन्न हो जाती है। फिल्म देखे बिना वह उत्सुकता शान्त नहीं हो सकती। जब तक वह शान्त नहीं हो जाती, तब तक चित्त की एकाग्रता (जो मानसिक शान्ति के लिए आवश्यक है) कैसे रह सकती है? प्रभु महावीर बहुत ही महत्वपूर्ण सन्देश देते हैं :-

जयं चरे जयं चिद्रे  
जयं आसे जयं सए ।  
जयं भुजतो भासतो  
पावं कम्मं न बन्धइ ॥

(सावधानी पूर्वक चलने, खड़े रहने, बैठने, सोने, खाने और बोलने वाले को पाप नहीं लगता !)

हमारी प्रत्येक क्रिया सावधानीपूर्वक होनी चाहिये- विवेकपूर्वक होनी चाहिये-विचारपूर्वक होनी चाहिये ! यही प्रभु के सन्देश का आशय है

जिसके सारे कार्य मर्यादित होते हैं, वही सज्जन है वह स्वाद के

लिए भोजन नहीं करता, केवल शरीर को टिकाये रखने के लिए ही आवश्यक खुराक ग्रहण करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह जीने के लिए खाता है; खाने के लिए नहीं जीता।

भुख बड़ाने के लिए भोजन करना अर्थदण्ड है। स्वाद की लालच में टूँस-टूँसकर खाना अनर्थदण्ड है। यही बात प्रत्येक कार्य में समझें। अनर्थदण्ड ही पाप का कारण होता है।

हम दूसरों को सताते हैं, तो दूसरे हमें सताते रहते हैं। इस प्रकार दुनियाँ में पापवृद्धि के अवसर आते रहते हैं। पुण्य का फल सुख है और पाप का फल दुःख। यह जानते हुए भी लोग पाप नहीं छोड़ते। हजारों वर्ष पहले महर्षि व्यास ने लिखा था :-

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति  
पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।  
पापस्य फलं नेच्छन्ति  
पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

[मनुष्य पुण्य का फल (सुख) तो चाहते हैं; परन्तु पुण्य (परोपकार) करना नहीं चाहते। इससे विपरीत पाप का फल (दुःख) नहीं चाहते (फिर भी) यत्नपूर्वक पाप करते रहते हैं !]

महर्षि की बात आज भी सच्ची साबित हो रही है। मनुष्य के स्वभाव में परिवर्तन अब तक नहीं हो पाया है। लोड का टुकड़ा यह कीचड़ से भरा हो तो पारस से छूने पर भी वह सांन नहीं बनता। उसी प्रकार आत्मा पर अज्ञान, विषय-कषाय आदि का कीचड़ लिपटा हो, तब तक गुरुदेव के सदुपदेश का उस पर कोई असर नहीं होता।

मनुष्य को यदि स्वरूप (आत्मा के स्वभाव) का ज्ञान हो जाय तो वह मानव से महामानव बन जाय। स्वरूपज्ञ बनने के लिए सदुद्देश्य सकल्प होना चाहिये।

कबीर साहब के एक दोहे का भाव यह है कि जब शिशु जन्म लेता है, तब रोता है और दूसरे हँसते हैं (प्रसन्न होते हैं)। उसे ऐसा कार्य कराना चाहिये कि जब उसकी मृत्यु हो तब वह हँसे और अन्य सब लोग रोने लगे कि कितना अच्छा आदमी था ! हमारे दुर्भाग्य से आज चल चसा।

परोपकारी को ही उस तरह लोग याद करते हैं। आप भी यथाशक्ति परोपकारी बनीये और यदि दूसरे लोग आपका उपकार करते हैं तो आप उनके प्रति पूरे कृतज्ञ रहिये।

कृत्ता अपने पालक की यथार्थान्त सेवा करता है। उसे कभी धोखा

नहीं देता । जो व्यक्ति अपने उपकारी को धोखा देता है, वह जिस थाली में खाता है, उसी थाली में छेद करने वाला नमकहराम है-कृतघ्न है । जिसके जीवन में कृतज्ञता के स्थान पर कृतघ्नता का निवास होता है, वह व्यक्ति कुत्ते से भी गया- गुजरा होता है ।

एक कृतज्ञ व्यक्ति दस परोपकारियों को पैदा करता है और एक कृतघ्न व्यक्ति सौ परोपकारियों को पैदा होने से रोक देता है ।

जो आत्मज्ञ होता है, वही कृतज्ञ बन सकता है । आत्मज्ञता के लिए आवश्यक है - देव की करुणा, गुरु के उपदेश और धर्म का पालन । देव-गुरु-धर्म की अनुकूलता से जीवन में ऐसा सौम्य उज्ज्वल प्रकाश उत्पन्न होता है, जो चारों ओर शान्ति स्थापित कर सके, सर्वत्र आनन्द बिखेर सके, प्रेम की वर्षा कर सके ।

भागते हुए किसी व्यक्ति से यदि आप पूछ लें कि “गन्तव्य स्थल कौनसा है ?” और यदि वह मौन रह जाय अथवा कह दे कि “मुझे मालुम नहीं” तो आप उस सहसा मूर्ख समझेंगे; परन्तु क्या वही मूर्खता हम में नहीं है ? हम जीते जरूर हैं, किन्तु हमें अपने जीवन का उद्देश्य ही नहीं मालुम । एक साधारण कीड़ा भी एक पत्ते से दूसरे पत्ते पर किसी प्रयोजन से ही जाता है; परन्तु मनुष्य जैसे विकसित प्राणी को जीवन का प्रयोजन मालुम न हो-यह कितने आश्चर्य की बात है ?

लक्ष्य निश्चित होने पर ही ठीक दिशा में प्रगति हो सकती है । श्रमण आत्मकल्याण के लिए श्रम करता है; किन्तु पुद्गलानन्दी साधारण जीव संसार में पर्यटन करने के लिए परिग्रह और पाप की पोटली बाँधने में लगा रहता है ।

तराजू का काँटा स्थिर होने पर ही वस्तु का ठीक भार बताता है । उसी प्रकार स्थिर मन को ही जीवन का लक्ष्य मालुम हो सकता है । उसके लिए चिन्तन-मनन की जरूरत होती है, दौड़-धूप की नहीं ।

त्याग, तप, संयम, नियम आदि के द्वारा आत्मा को सांसारिक बन्धनों से मुक्त करना ही जीवन का प्रयोजन है । जिस प्रकार लोकमान्य तिलक ने स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार बताया था, वैसे ही संसार के समस्त साधु मोक्ष को प्राणियों का जन्मसिद्ध अधिकार बताते हैं । वे कहते हैं-जीव को शिव, नर को नारायण, मानव को महामानव और अहं (आत्मा) को अहम् (परमात्मा) बनाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य है ।

## सच्चा जैन

लोग धर्म की बातें तो खूब करते हैं; परन्तु धर्म को अपनाते नहीं; इसीलिए दुःखी रहते हैं ।

“धर्मो रक्षति रक्षितः ॥”

(यदि हम धर्म की रक्षा करते हैं; तो धर्म हमारी रक्षा करता है)

धर्म की रक्षा करने के लिए आत्मा के स्वरूप को समझना पड़ेगा । आत्मा का लक्षण है-चेतना, आनन्द, ज्ञान, दर्शन और चारित्र ।

शोक से आर्त ध्यान होता है, क्रोध से रौद्रध्यान । आर्तध्यान और रौद्रध्यान से कर्मों का बन्ध होता है और जीव जन्म जरा-मरण के चक्र में पड़ा रहता है । इससे विपरीत आत्मा के स्वरूप को पहिचान लेने पर धर्मध्यान और शुद्ध ध्यान होते हैं, जो प्राणी को मोक्ष की ओर ले जाते हैं ।

कर्मों से लिपटा जीव अनादिकाल से वासना की परिधि में निवास करता रहा है । उस परिधि से धर्म ही उसे बाहर निकाल सकता है । आत्मा पर लगी कर्म रज ज्यों- ज्यों हटती जायगी, त्यों त्यों आत्मा अधिकाधिक उज्ज्वल होती जायेगी ।

संसार में घड़ी के पेंडुलम (लोलक) की तरह जीव राग और द्वेष के बीच झूल रहा है । वीतराग देव की शरण में जाने पर ही उसे शान्ति प्राप्त हो सकती है । वे हमारी नौका के कर्णधार हैं । प्रभु के प्रति अनन्य श्रद्धा हो - भक्ति हो- समर्पण का भाव हो तो भवसागर ही क्यों ? भौतिक दुःखों का सागर भी पार किया जा सकता है । जैसा कि जैनाचार्य श्री मानतुंगसूरि ने आदिनाथ स्तोत्र (भक्तामर) में लिखा है :-

अम्भौनिधो क्षुधित-भीषण-नक्रचक्र-

पाठीन-पीठ-भयदोल्बण-वाडवाग्नौ

रंगतरङ्ग - शिखर-स्थित-यानपात्रा-

सज्ञासं विहाय भवतः स्मरणं ब्रजन्ति ॥

(वृद्ध और भयंकर नकों के समूह एवं मगरमच्छों के कारण भयभीत करनेवाले तथा प्रचण्ड वाडवाग्नि वाले समुद्र में हिलने वाली तरंगों के शिखर पर नौका में बैठे हुए यात्री भी आपका स्मरण करने से कष्टों में न पड़कर पार हो जाते हैं ।)

एक बार यात्रियोंसे भरा हुआ एक जहाज समुद्र की सतह पर चला जा



रहा था कि सहसा एक भयंकर तूफान आया। उससे जहाज डगमगाने लगा। एक श्रावक यह देखकर प्रभु का ध्यान करने बैठ गया। उसकी पत्नी ने कहा :- “यह तो डूब मरने का समय है ध्यान करने का नहीं !”

यह सुनकर पति ने पिस्तौल उठाकर पत्नी को निंशाना बनाया। पत्नी मुस्करा ने लगी। पति ने कारण पूँछा तो उसने कहा :- ‘मुझे पूरा विश्वास है कि तुम मुझ पर गोली नहीं चलाओगे; इसीलिए तुम्हारे इस अभिनय पर मुझे हँसी आ गई।’

इस पर पति ने कहा :- “जैसे तुम्हें मुझपर विश्वास है, वैसे ही मुझे प्रभु पर विश्वास है; इसी लिए मैं निश्चिन्त होकर प्रभुका ध्यान कर रहा हूँ।’

कुछ समय सचमुच आशा के अनुरूप तूफान शान्त हो गया

जैसे शिव का भक्त शैव, विष्णु का भक्त वैष्णव और बुद्ध का भक्त बौद्ध कहलाता है, वैसे ही जिन का भक्त जैन है।

रागद्वेष के विजेता को जिन कहते हैं। जिन देव निष्पक्ष होते हैं- परम विवेकी होते हैं। उनके अनुयायी भी निष्पक्ष और विवेकी बनें।

हंस जिस प्रकार पानी छोड़ कर दूध पी लेता है, वैसे ही विवेकी सद्गुण सब से ग्रहण करता है और दुर्गुण छोड़ देता है। इससे विपरीत अविवेकी कुप्पी (कीप या छन्नी) के समान कचरे जैसे दुर्गुणों को ग्रहण करता है और सद्गुणों को छोड़ देता है।

परमविवेकी प्रभु ने अशान्त जगत् को शान्त करने के लिए, विविध विवादों को सुलझाने के लिए तथा सच्चे ज्ञान को प्रकाशित करनेके लिए स्याद्वाद का सिद्धान्त प्रकट किया है। स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद कहते हैं।

स्याद्वाद विभिन्न दृष्टिकोणों से एक वस्तु को देखना सिखाता है। वह सलाह देता है कि किसी वस्तु को ठीक तरह से समझने के लिए (जरूरी है कि उसे) आप केवल अपनी ही नहीं, किन्तु दूसरों की आँखों से भी देखने का प्रयास करें।

“एकस्मिन्वस्तुन्यविरुद्धनानाधर्मस्वीकारो हि स्याद्वादः।”

(एक वस्तु में अविरोधां अनेक धर्मों की स्वीकृति स्याद्वाद है।)

बडे मुल्ला ने पत्नी से कहा :- “थोडा सा पनीर ले आओ। वह भूँख बढ़ाता है।”

पत्नी बोली :- “अजी ! पनीर तो घर में नहीं है। कैसे लाऊँ ?”

मुल्ला :- “यह तो अच्छी बात है क्यों कि पनीर दाँतों की जड़ों को कमजोर बनाता है।”

पत्नी :- “आपने पनीर के विषयमें दो अलग-अलग बातें कही हैं । एक से वह अच्छा मालूम होता है और दूसरी से बुरा । दोनों में से कौन सी बात मानी जाय ?”

मुस्फुराते हुए मुल्लाजी बोलें :- “बातें दोनों सच्ची है”; परन्तु मानना अपनी परिस्थिति पर निर्भर है । यदि घर में पनीर हो तो पहली बात मान लो और न हो तो दूसरी ।”

व्यवहार में स्याद्वाद की कदम कदम पर जरूर होती है । वही कारण है कि आचार्यों ने अनेकान्त को वन्दन करते हुए कहा है :-

जेण विणा लोगस्सवि  
ववहारो सब्बहा न निव्वडई  
तस्स भुवणेक्कगुरुणो  
णमो अणेगतवायस्स ॥

(जिसके बिना लोक का व्यवहार भी बिल्कुल चल नहीं सकता । संसार के एक मात्र गुरु उस अनेकान्तवाद को नमस्कार हो)

एक ही व्यक्ति किसी का पति है, किसी का पिता, किसी का पुत्र और किसी का भाई ! क्या विरोध है इसमें ? पत्थर छोटा होता है या बड़ा ? इस प्रश्न का उत्तर बिना अनेकान्त के दिया ही नहीं जा सकता। कहना पड़ेगा कि वह कंकर से बड़ा होता है और चट्टान से छोटा । इस प्रकार एक ही पत्थर “छोटा” भी है और “बड़ा” भी ! जहाँ विभिन्नता में एकता के दर्शन होते हैं - अनेकान्त हो जाता, वही अनेकान्त है । इसी सिद्धांत के द्वारा महाश्रमण महावीर ने तीन सौ तिरसठ (३६३) मतों का समन्वय किया था

‘जन’ और ‘जेन’में केवल दो मात्राओं का अन्तर है । एक मात्रा विचार की है और दूसरी आचार की । विचारों में जिसके अनेकान्त हों और आचार में अहिंसा, वही व्यक्ति “जेन” कहलाता है । विचार और आचार की शुद्धि के द्वारा कोई भी जन जेन बन सकता है । दो पंखों से उड़ने वाले पक्षियों में कोई भेदभाव नहीं होता, उसी प्रकार विचार और आचार के दो पंख जुड़ जाने पर बिना किसी जातिभेद के कोई भी जन ‘जेन’ बनकर संसाररूपी जंगल में उड़ानें भर सकता है ।

अधिक कीचड़ और कम पानी जहाँ हो, वहाँ हाथी फँस जाता है; किन्तु इससे विपरीत कम कीचड़ और अधिक पानी हों, वहाँ हाथी पार निकल जाता है । उसी प्रकार संसार में वही प्राणी भटकता है, जिसके

जीवन में अधिक पाप और कम पुण्य । इससे विपरीत अधिक पुण्य और कम पाप वाला प्राणी धीरे-धीरे पार हो जाता है । पुण्य और पाप का यह विवेक जैन धर्म सिखाता है ।

अहंकार से पापों में वृद्धि होती है; इसलिए जैन धर्म ने नमस्कार का महामन्त्र दिया है । विनय अहंकार का विरोधी है । विद्या से विनय आता है । फल आने पर आम की शाखाएँ झुकती हैं; किन्तु ताड़ की शाखाएँ ऊंची हो जाती हैं । आम मधुर है और ताड़ मादक । विनय मधुर है और अहंकार मादक । बीज से फल पैदा होता है और फल से बीज ! इसी प्रकार विद्या से विनय उत्पन्न होता है और विनय से विद्या आती है; क्योंकि विनीत शिष्य को ही गुरुदेव शास्त्रों का रहस्य समझाते हैं, अविनीत को नहीं । अविनीत या अहंकारी अपने को बहुत बड़ा ज्ञानी समझ लेता है; इसलिए उसका विकास रुक जाता है । वह और अधिक समझना ही नहीं चाहता; इसलिए कोई उसे समझा भी नहीं सकता । कहा है : -

अज्ञः सुखमाराध्यः  
सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।  
ज्ञानलवदुर्विदाग्धम्  
ब्रह्माऽपि तं नरं न रंजयति ॥

(अज्ञानी को सरलता से समझाया जा सकता है । विशेष ज्ञानी को और भी अधिक सरलता से समझाया जा सकता है; परन्तु थोड़ा-सा ज्ञान पाकर जो अपने को महान् पण्डित समझ लेता है, उसे तो स्वयं ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता !)

हिन्दी में कहावत है :- “थोथा चना, बाजे घना !” इसी आशय को संस्कृत की इस सूक्ति में बहुत पहले ही नीतिकारों ने प्रकट कर दिया था :-

“अल्पविद्यो महागर्वः ॥”

(जिस में विद्या कम होती है, वह घमण्ड अधिक करता है)

संक्षेप में जो प्रभु का अनन्य भक्त है - जिसका विचार अनेकान्त से और आचार अहिंसा से अलंकृत होता है तथा जो विनयपूर्वक विद्या का अध्ययन करता रहता है, वही सच्चा जैन है ।

## गुरु-शिष्य

‘गु’ शब्दस्त्वन्धकारः स्याद्

‘रु’ शब्दस्तन्निरोधकः

अन्धकार निरोधित्वाद्

गुरुरित्यभिधीयते ॥

(‘गु’ का अर्थ है - अन्धकार और ‘रु’ का अर्थ है - निवारक। अज्ञानरूपी अन्धकार का निवारक होने से ही किसी व्यक्ति को गुरु’ कहा जाता है)

अन्धा क्या चाहे ? दो आँखें । यदि कोई किसी अन्धे को आँखें दे दे तो वह जीवन-भर उसके प्रति कृतज्ञ बना रहेगा । गुरु भी शिष्यों के विवेक चक्षु खोलने का काम करता है; इसलिए वन्दनीय है :-

अज्ञान-तिमिरान्धानाम्  
ज्ञानाञ्जनशलाकया ।  
चक्षुरून्मीलितं येन  
तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

(अज्ञानरूपी अन्धकार से जो अन्धे हैं, उनकी चक्षु को ज्ञानरूपी अंजनशलाका से खोलने वाले गुरु को हम नमस्कार करते हैं)

गुरु में ज्ञान तो भरपूर होना ही चाहिये, साथ ही उसका आचरण भी पवित्र होना चाहिये । वाणी के अनुसार उसका व्यवहार भी होना चाहिये; अन्यथा शास्त्रकारों के अनुसार वह सच्चा गुरु नहीं हो सकता । वह धुआँधार प्रवचन कर के भले ही गुरुत्व का सन्तोष प्राप्त कर ले; परन्तु आचरण को अपनाये बिना वह वास्तविक गुरु पद नहीं पा सकता ।

भणता अकरिन्ता य  
बन्धमोक्षपङ्क्तिणो ।  
वायाविरियमेत्तेणं  
समासासन्ति अप्ययं ॥

[बन्ध और मोक्ष की प्ररूपणा करने वाले जो लोग कहते हैं, गगन वैसा स्वयं करते नहीं हैं, वे बोलने की शक्ति मात्र से अपने आप का सन्तुष्ट रखते हैं ]

ऐसे गुरुओं को भविष्य में पछताना पड़ेगा - ऐसी चेतावनी महात्मा कबीर ने इन शब्दों में दी थी :-

कहते सो करते नहीं,  
मुँह के बड़े लबार ।  
काला मुँह हो जायगा,  
साई के दरबार ॥

केवल वेष देखकर किसी को 'गुरु' नहीं मान लेना चाहिये । कहावत है :-

“पानी पीजे छानकर !  
गुरु कीजे जानकर !!”

विवेक से जान-पहिचानकर ही हमें 'गुरु' का निर्णय करना चाहिये । स्वामी सत्यभक्त ने लिखा है :-

बिछा हुआ है, जगत में  
कु गुरु जनों का जाल ।  
उसे तोड़ने के लिए  
ले विवेक-करवाल ॥  
ज्ञान नहीं; संयम नहीं  
और न पर-उपकार ।  
वे कु साधु गुरुवेष में  
हैं पृथ्वी के भार ॥

इसका आशय यह है कि जिसके जीवन में ज्ञान, संयम और परोपकार विद्यमान हो, वही गुरु है ।

मूर्तिकार अपनी कला के द्वारा पत्थर को प्रतिमा में परिवर्तित कर देता है । पत्थर को छैनी के तीव्र प्रहार सहने पड़ते हैं, तभी वह मूर्ति के रूप में पूज्य बनता है । इसी प्रकार गुरु अपने शिष्य को दानव से मानव और मानव से महामानव बनाता है । गुरु की डाँट-फटकार और उसकी छड़ी के प्रहार सहकर ही शिष्य सुयोग्य विद्वान् बनता है :-

गीर्भिर्गुरूणां पुरुषाक्षराभि -  
निर्पीडिता यान्ति नरा महत्त्वम्  
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणाम्  
न जातु मौलौ मणयो विशन्ति ॥

(गुरुओं की कठोर अक्षरों वाली फटकार से पीड़ित होने वाले शिष्य ही महान् बनते हैं । जो कसौटी पर घिसी नहीं गई, वे मणियाँ कभी राजाओं के मुकुट में स्थान नहीं पाती !)

गुरु का उपदेश डायनेमिक फोर्स है, जिससे गति हो सकती है । गुरु का आदेश वह रसायन है, जिससे शिष्यका आध्यात्मिक जीवन परिपुष्ट होता है; मानव असामान्य बन जाता है, वह प्रभुता के पथ पर चल सकता है- प्रभुता पा सकता है । मानव के हृदय में छिपी हुई दिव्यता गुरुसमागम से बाहर निकल पड़ती है । गुरु की अनुपस्थिति में भी श्रद्धा अपना कार्य करती रहती है ।

क्षत्रिय न होने के कारण एकलव्य को द्रोणाचार्य ने शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया; किन्तु एकलव्य इससे निराश नहीं हुआ । उसने द्रोणाचार्य की एक मूर्ति मिट्टी से बनाकर जंगल में किसी जगह उस की स्थापना कर दी और श्रद्धापूर्वक अन्तःकरण के आदेश को गुरु का आदेश मानकर धनुर्विद्या व प्रायोगिक अभ्यास करने लगा । फलस्वरूप वह द्रोण के प्रिय शिष्य अर्जुन से भी अधिक निपुण बन गया । द्रोणाचार्य को भी उसकी कुशलता देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ी थी !

महाभारत के इस अनुपम दृष्टान्त से सिद्ध हो जाता कि गुरु के प्रति श्रद्धा में कैसा चमत्कार होता है !

किन्तु कोरी श्रद्धा से ही जीवन में उन्नति हो जायगी ऐसा भ्रम किसी को नहीं रखना चाहिये । श्रद्धा के बाद गुरु उपदेश को अपनाना भी जरूरी है । आचरण से ही जीवन आदर्श बनता है । गुरु सहिष्णुता का उपदेश देते हैं और फिर डाँटते फटकारते हैं । क्यों ? सहिष्णुता को अपने जीवन में हमने कितना अपनाया है ? इसकी परीक्षा लेने के लिए !

एक शिष्य ने आश्रम में झाड़ू लगाकर कचरा एक टोकरी में भरकर रखा दिया; परन्तु दूसरे किसी सेवाकार्य में उलझ जाने के कारण टोकरी वहीं पड़ी रह गई । कचरा फेंकने की बात याद नहीं रही ।

कुछ समय बाद प्रज्ञाचक्षु गुरुजी उधर से निकले और टोकरी से टाँग टकराई तो गिर पड़े । इस पर गुरु ने शिष्य को लाठी से खूब पीटा । शिष्य हटा नहीं और क्षमा माँगते हुए शान्ति से प्रहार सहता रहा । लाठी की चोट का चिन्ह शिष्य की पीठ पर जीवन भर के लिए अंकित हो गया । लोगों के पूछने पर वह शिष्य बड़े गर्व से कहा करता था कि यह तो मेरे गुरुजी का प्रसाद है !

गुरुजी थे- श्री विरजानन्दजी सरस्वती और शिष्य का नाम था -

स्वामी दयानन्द सरस्वती । वे जानते थे कि शिष्य को सुधारने के लिए गुरुजी कितने भी क्षुब्ध हो जाय; परन्तु उन के हृदय में द्वेष नहीं होता । वहाँ केवल प्रेम और वात्सल्य ही भरा रहता है :-

गुरु कुँभार सिख कुम्भ है,  
गढ़-गढ़ काढे खोट ।  
अन्दर हाथ सहार दै  
ऊपर मारे चोट ॥

गुरु कुम्हार है और शिष्य घड़ा । घड़े पर कुम्हार चोट लगाकर खोट निकालता है और एक हाथ से घड़े के अन्दर उसे सहारा भी देता है । मन में वात्सल्य रखकर माँ जिस प्रकार बेटे की पिटाई करती है, उसी प्रकार गुरु भी करता है । कु गुरु की बात अलग है । समझदार व्यक्ति कु गुरु से बचने का प्रयास करते हैं । कु गुरु शिष्यों के अन्धविश्वास का लाभ उठाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं ।

एक बुद्धिमान् पढ़ा लिखा निर्धन युवक था । उसे अर्धांगिनी की तलाश थी । एक सेठ इस शर्त पर अपनी कन्या से उसका विवाह करने को तैयार था कि वह धर्मान्तरण कर ले । युवक ने सोचा कि धर्म तो आचरण की चीज है । धर्म बदलने से आचरण नहीं बदलेगा । अच्छे आचरण का कोई धर्म विरोध भी नहीं करेगा; इसलिए धर्मान्तरण की उसने स्वीकृति दे दी ।

विवाह की तैयारियाँ होने लगी । वर और कन्या एक दूसरे को चाहते थे । विवाह मण्डप में जाने से पूर्व युवक से कहा गया कि वह स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण कर ले और फिर गुरुजी के पास चलकर गुरुमन्त्र ग्रहण कर ले । ऐसा करने से मान लिया जायगा कि धर्मान्तरण हो चुका है । फिर विवाह विधी सम्पन्न की जायगी ।

युवक ने वैसा ही किया । शुद्ध वस्त्र पहिनकर वह उस स्थान पर गया । जहाँ सेठजी के गुरुजी बिराजमान थे । सेठजी के संकेत पर गुरुजी ने युवक के कान में गुरुमन्त्र सुन दिया । मन्त्र छोटा-सा था । याद भी हो गया ।

युवक ने पूछा :- “इस मन्त्र के जाप से क्या लाभ होगा ?”

गुरु :- “स्वर्ग मिलेगा ।”

युवक :- “क्या सचमुच मिलेगा ?”

गुरु :- “अरे भाई ! इस मन्त्र के जप से तो वैकुण्ठ तक मिल जाता है !”

युवक :- “अच्छी बात है । इतना अभीष्ट उत्तम मन्त्र पाने की खुशी में आज मैं आपको दिल्ली की दक्षिणा देता हूँ ।”

गुरु :- “दिल्ली क्या तेरे बाप की है ?”

युवक :- “तो क्या स्वर्ग और वैकुण्ठ आपके बापके हैं ?”

गुरु निरुत्तर हो गया । सभी सुनने वाले ठहाका मार कर हँस पड़े । संठ ने बिना धर्मान्तरण किये ही कन्या विवाह दी । ऐसे लोभी गुरु से भला कौन बचना नहीं चाहेगा ?



## साधनों का सदुपयोग

मनुष्य को पाँच उत्तम साधन प्राप्त हुए हैं :- बुद्धि, काया, मन, धन और भाषा । इनके सदुपयोग पर ही दुर्लभ मानव भव की सफलता निर्भर है ।

शरीर में मस्तिष्क का स्थान सब से ऊपर है; क्योंकि उसका महत्व सब से अधिक है । मस्तिष्क की शक्ति को बुद्धि कहते हैं । वही कार्य-अकार्य का निर्णय करती है । उसी के आदेश से शरीर की समस्त गतिविधियों का संचालन होता है । धारणा या स्मृति भी उसी का कार्य है । हम महापुरुषों के विचारों को समझने के लिए शास्त्रों का अध्ययन करें और अपने लिए कर्तव्य का निर्णय करें- अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करें तो यही हमारी बुद्धि का सदुपयोग होगा । प्रभु महावीर ने कहा था :-

“पण्णा समिक्खए धम्म ॥”

(बुद्धि, धर्म की समीक्षा करें)

धर्म का अर्थ है- सदाचार का कर्तव्य । बुद्धि ही धर्म का निर्णय कर सकती है । वही हमें रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से बचा सकता है । वही भूले-भटके लोगों का ठीक-ठीक मार्ग दर्शन कर सकती है । वही मानसिक दुर्बलताओं को नष्ट करने का साहस उत्पन्न कर सकती है । वही संकटों में सुरक्षा का उपाय सुझा सकती है ।

भवन की सातवीं मंजिल के एक कमरे में खिड़की के निकट कुर्सी पर बैठे युवक को एक दुष्ट ने पिस्तौल दिखाते हुए आज्ञा दी - “यहाँ से नीचे कूद पड़ो; अन्यथा गोली मार दूँगा !”

संकट की इस घड़ी में यदि युवक व्याकुल हो जाता तो उसे मरना पड़ता; परन्तु उसने बुद्धि का उपयोग किया । फल स्वरूप उसे एक उपाय सूझ गया ।

मूस्क्रांते हुए वह बोला :- “अरे भाई ! ऊपर से नीचे तो सभी कूद लेंगे हैं । यह कोई बड़ी बात नहीं है । मैं तो नीचे से ऊपर उछलकर आ सकता हूँ- मैं हाई जम्प में एक्सपर्ट हूँ ।”

दुष्ट ने कहा :- “अच्छा ! तो ऐसा ही कर के दिखा दो ।”

यह सुनते ही दुष्ट को खिड़की के निकट खड़ा करके युवक कमरे से बाहर निकल आया । दुष्ट ने सोचा कि वह उछलने की कला दिखाने के लिए नीचे जा रहा है; किन्तु युवक ने बाहर निकलते ही दरवाजा बन्द

कर के उस पर ताला लगा दिया । फिर फोन कर के दृष्ट को पुलिस वालों के हाथ सौंप दिया । इस प्रकार बुद्धि के उपयोग से अपनी जान बचाने में सफलता पाई ।

दूसरा साधन है - काया । यह नश्वर है- परिवर्तन शील है- निस्सार है और है रोगों का घर । ऐसी काया से दूसरों की सेवा करनी चाहिये। सेवा या वैयावृत्य को आभ्यन्तर तप का एक भेद माना गया है । यदि कोई जानक्याली दृष्ट किसी निर्बल को पीट रहा हो तो अपनी शारीरिक शक्ति का उपयोग कर के हम उसकी रक्षा कर सकते हैं । यही काया का सदुपयोग है ।

तीसरा साधन है- मन । इस में मनन करने की शक्ति होती है । एक पाश्चात्य विचारक ने लिखा है :-

“निर्णय शीघ्र करो; परन्तु देर तक सोच लेने के बाद !”

सोचने-विचारने का जो कार्य करता है, वह मन है । निर्णय बुद्धि करती है । न्यायाधीश के समान; परन्तु वकीलों की तरह पक्ष-विपक्ष में युक्तियाँ प्रस्तुत करने वाला मन है । मन ही इन्द्रियों को विषयों की ओर आकर्षित करता है; इस लिए साधुसन्त उसे वश में रखने की शिक्षा देते हैं । कबीर साहब कहते हैं कि मन को ईश्वर की ओर या मोक्ष की ओर घुमाना ही उसका सदुपयोग है :-

कबिरा माला काठकी  
कहि समुझावै तोय  
मन न फिरावै आपणा  
कहा फिरावै मोय ?  
माला फेरत जुग गया,  
मिटा न मन का फेर  
कर का मन का डारि दे  
मन का मनका फेर ॥

प्राचीन शास्त्रकारों ने कहा है :-

“मन एव मनुष्याणाम्  
कारणं बन्धमोक्षयोः ॥”

(बन्ध और मोक्षका कारण मनुष्यों का मन ही है)

यदि किसी जानवर (पशु) को बन्धन से मुक्त कर दिया जाय तो वह

खुशी के मारे उछलने लगता है- पक्षी भी पिंजरे से छूटने पर चहकने लगता है; परन्तु मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो क्षणिक सुख की लालच में पड़कर सांसारिक बन्धन में फँसा रहना चाहता है ! स्थायी सुख वाले मोक्ष की ओर वह आगे नहीं होता !

चौरासी लाख जीवयोनियों में भटकते हुए जब बहुत अधिक पुण्य का संचय हो जाता है, तभी बहुत मुश्किल से मानवभव मिलता है । मोक्ष की साधना इसी भव में संभव है; अन्यथा पुण्य-पाप का फल भोगने के लिए जीव देवगति, नरकगति और तिर्य्यक गतिमें शटल कोक (Shuttle Cock) की तरह इधर-उधर भटकता रहता है । आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान भी वही करता है ।

यदि मन में अशान्ति हो तो पेट में अजीर्ण हो जाता है, जिससे समस्त शारीरिक रोग पैदा होते हैं । स्वस्थ रहने के लिए मन को सदा शान्त रखना चाहिये । ध्यान रखना चाहिये कि उस में सदा सद्बिचार ही भरे रहें । यही उसका सद्पयोग है ।

चौथा है - धन । इन्द्रियों के लिए विषय-सुख की सामग्री जुटाना धन का दुरुपयोग है और उस से दूसरों की मदद करना बीमारों की चिकित्सा में उसे लगाना धर्मस्थान, प्याऊ, कूँआ, सदाव्रत (दानशाला), पाठशाला, छात्रवृत्ति, प्रतियोगिता, पुरस्कार, सद्ग्रन्थ प्रकाशन, सत्संग आदि में उसे खर्च करना उसका सद्पयोग है ।

इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ एक डाक्टर थे; इसलिए रोगियों का इलाज भी किया करते थे। एक दिन कोई महिला अपने बीमार पतिदेव का इलाज कराने के लिए उन्हें घर बुला ले गई ।

कवि को यह समझने में देर नहीं लगी कि गरीबी से उत्पन्न मानसिक चिन्ता ही उस की बीमारी का मूल कारण है ।

कवि यह कहते हुए अपने घर लौट गये कि मैं जल्दी ही एक दवा का पैकेट भेजूँगा । उसके सेवन से इन का स्वास्थ्य ठीक हो जायगा ।

कवि के भेजे हुए पैकेट को जब उस महिला ने खोला तो उस में दस दस स्वर्णमुद्राएँ निकलीं ।

उन्हें देखकर ही आधी बीमारी गायब हो गई । पति-पत्नी ने मन-ही-मन कवि की उदारता को प्रणाम किया ।

इसी प्रकार एक जीवन घटना हजरत अली की है । वे एक दिन किसी मस्जिद में प्रवचन कर रहे थे कि सहसा किसी अरब ने वहाँ आकर गालियों की बरसात कर दी । श्रोता उत्तेजीत होकर उस की पिटाई

करना ही चाहते थे कि अलीने कहा :- “इसे पीटिये मत; किन्तु प्यार से पूछिये कि क्या घर में उस के किसी कुटुम्बी की मृत्यु हुई है, क्या उसके सिर पर कोई कर्जा है। क्या उसे भरपेट भोजन हर रोज मिल जाता है ?”

अरब ने बताया कि उसके घर में जवान बेटे की मृत्यु हुई है, कर्जा भी है और भरपेट भोजन भी उस नहीं मिल पाता।

“यही कारण है कि उसका मन अशान्त रहता है और वह गालियाँ देता है”। ऐसा कहते हुए अली ने तत्काल अपने घर से माँगवाकर उसे इतना धन दे दिया कि उससे कर्जा उतर जाय, कुटुम्बियों के लिए महीने भर की भोजन की व्यवस्था हो जाय और व्यापार के लिए कुछ पूंजी भी बच जाय।

उसी दिन वह दुष्ट से शिष्ट बन गया। अली की तरह धन का सदुपयोग करने वाले धन्य हैं।

पाँचवाँ साधन है- भाषा। यही पशुपक्षियों से मनुष्य को अलग करती है। अपने भावों को सूक्ष्मता से विस्तार के साथ प्रकट करने की क्षमता मनुष्य की भाषा में है। अपने शब्दों से मनुष्य दूसरों की निन्दा भी कर सकता है और प्रशंसा भी गालियों की बौछार भी कर सकता है और गुणगान भी, कठोर शब्दों के प्रयोग से अपने दुश्मनों की संख्या भी बढ़ा सकता है और कोमल मधुर शब्दों के द्वारा अधिक से अधिक दोस्त भी बना सकता है।

विवेकी सज्जन अपनी भाषा को हमेशा सदुपयोग करते हैं। वे अहितकर सत्य नहीं बोलते और हितकर असत्य भी बोलते हैं। वे जानते हैं कि प्रमुख लक्ष्य जनहित है। उनके सामने यह सूक्ति रहती है :-

“सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्  
न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ॥”

(सच बोलें, मीठा बोलें, किन्तु कटु सत्य न बोलें)

## परोपकार

परोपकार सब से बड़ा धर्म है और समस्त शास्त्रों का साग है ।

करोड़ों धर्मशास्त्र सौ बेलगाड़ियों में लाद कर एक पंडित प्रवचनार्थ किसी राजमहल में पहुँचा, उसे राजा ने कहा :- “मेरे पास इतना समय नहीं है कि मैं प्रतिदिन कुछ घंटे शास्त्र श्रवण के लिए निकाल सकूँ । केवल एक मिनिट में आप जो कुछ समझा सकें, समझा दीजिए ।”

इस पर पंडितजी ने कहा :- “सुनिये

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि

यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।

परोपकारः पुण्याय

पापाय पर-पीडनम् ॥

(करोड़ों धर्मग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, उसे मैं आधे श्लोक से प्रकट कर देता हूँ कि परोपकार से पुण्य और पर पाड़ा से पाप होता है)

पंडितजी के चातुर्य से परिपूर्ण इस सारगर्भित उतर से प्रसन्न होकर राजा ने यथोचित पुरस्कार के द्वारा उन्हें सम्मानित किया ।

इस कथा से परोपकार का महत्व समझा जा सकता है ।

अशुभ कर्मों के उदय से परिस्थिति प्रतिकूल हो; फिर भी हमें परोपकार से मुँह नहीं मोड़ना चाहिये । शुभ-कर्मोदय के बाद परिस्थिति निश्चय ही अनुकूल बन जायगी ।

पारस्परिक अविश्वास के कारण आज प्रेम नष्ट हो गया है, जो परोपकार का प्रेरक है । यदि हम दूसरों का उपकार नहीं करते तो यह अशा कैसे कर सकते हैं कि दूसरे हम पर उपकार करेंगे ।

उपकार तन और धन के ही नहीं, वचन से भी होता है । मधुर शब्द हर्ष उत्पन्न करता है और कटुक शब्द शाक । कहा है :-

“एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः

स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति !”

(अच्छी तरह जाना हुआ एक शब्द यदि ठीक (समय पर ठीक ढंग से) प्रयुक्त किया जाय तो वह स्वर्ग में और संसार में इच्छाओं की पूर्ति करने वाला होता है)

जैसे लोगों के सहवास में व्यक्ति रहता है, वैसी ही बोली सीखता है। जो ताता सन्यासी के आश्रम में पलता है, वह शिष्ट भाषा बोलता है; किन्तु जो ताता कसाई के बूचड़खाने में पलता है, वह बुरी-बुरी गालियाँ बकता है। एक ताते ने किसी राजा से कहा था :-

“अहं मुनीनां वचनं शृणोमि  
गवाशनानां स शृणोति वाक्यम् ।  
न चास्य दोषो न च मदुणो वा  
संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ॥”

(मे मुनियों के वचन सुनता हूँ और वह कसाइयों के ! उसका कोई दोष नहीं है और मेरा कोई गुण नहीं है। हे राजन् ! गुण -दोष संसर्ग से उत्पन्न होते हैं)

अच्छे लोगों के संसर्ग में रहने से अच्छे विचार सूझते हैं। विचारों के अनुसार वचन प्रकट होते हैं। बहुत गुस्सा आने पर भी गाँधीजी अधिक से अधिक “पागल” शब्द का ही प्रयोग कर पाते थे।

सुभाषा से उन्नति होती है और कुभाषा से पतन। जिस जीभ से जगत् की आग शान्त हो सकती है, उसी से खून की नदियाँ भी बह सकती हैं; इस लिए हमेशा साँचविचार कर ही बोलना चाहिये :-

“बोली बोल अमोल है  
बोल सके तो बोल ।  
पहले भीतर तौलकर  
फिर बाहर को खोल ॥”

इस विषय में “सोय्ल्त;” नामक शायर ने कहा था :

“आदत है हमें बोलने की तौल-तौल कर ।  
है एक-एक लफ्ज बराबर वजन के साथ !”

यह आदत उन्हीं सज्जनों में होती है, जो विवेक के छन्ने से विचारों को छान कर फिर बोलते हैं। एक इंग्लिश विचारक ने सुझाव दिया है :-

“Run before you jump and  
think before you speak—”  
(कूदने से पहले दौड़ो और बोलने से पहले सोचो)

किसी राजा को सपने में दिखाई दिया कि उसकी बत्तीसी गिर गई है। दूसरे दिन स्वप्नफल पाठकों से पूछने पर एक ने कहा :- “आपके बत्तीसों कुटुम्बी एक के-बाद-एक मर जायेंगे !”

राजा को इससे बहुत अधिक शोक हुआ; किन्तु तीसरे दिन दूसरे विद्वान् ने जब यह कहा कि- “आपकी उम्र आपके सभी कुटुम्बियों से अधिक है। कोई भी कुटुम्बी आपका महाप्रयाण नहीं देख सकेगा !” तो राजा को बहुत प्रसन्नता हुई।

बात दोनों विद्वानों ने एक ही कही; परन्तु पहले ने अविवेकपूर्वक कहा, दूसरे ने विवेकपूर्वक। इसी लिए उनके बोलने का प्रभाव राजा पर अलग-अलग हुआ।

किसी की गुप्त बात प्रकट करने से यदि उसकी हानी होने की संभावना हो तो सच्ची होने पर भी वह बोलने योग्य नहीं। दूसरों को लाभ पहुँचाने वाली बात बोलनी चाहिये, हानि पहुँचाने वाली नहीं; क्योंकि किसी को हानि पहुँचाना पाप है; इसलिए स्वयं महाशयण महावीर ने अपने श्रीमुख से फरमाया है :-

“सञ्चावि सा न वत्तव्वा  
जओ पावस्स आगमो ॥”

(जिससे पाप होता हो, ऐसी सच्ची वाणी भी नहीं बोलनी चाहिये)

वचनों का प्रयोग मन्त्र की तरह होना चाहिये, जिसमें शब्द कम हों और अर्थ गम्भीर हो। धन के समुद्र में बहुत अधिक बोलने पर लाखों की लागत के महल में रहनेवाले भी कौड़ी के लिए कोर्ट के दरवाजे खटखटाते हैं।

वाणी का संयम वही रख सकता है, जिसका अपने विचारों पर संयम हो।

चावल के एक कण के आकार वाला तान्दुल मत्स्य सातवीं नरक में क्यों जाता है? मगरमच्छ की पलकों पर बैठा हुआ वह देखता है कि मगर के विशाल मुँह के खुलते ही बहुत-सी छोटी-छोटी मछलियाँ बाहर निकल कर इधर-उधर भाग जाती हैं तो वह सोचता है - “कैसा है यह मूर्ख? इसे अपना मुँह भी ठीक से बन्द करना नहीं आता। यदि इस मगर के स्थान पर मैं होता तो अपने मुँह में प्रविष्ट एक भी मछली को बाहर नहीं निकलने देता !”

इस प्रकार रौद्रध्यान से वह अपनी आत्मा को कर्मशृंखलाओं से जकड़ता रहता है और फिर भोगता है- सातवें नरक के दुःख !

मोक्ष का सुख सर्वोत्तम है- शाश्वत है । मनुष्य-भवमें ही मोक्ष की साधना की जा सकती है; अतः स्वर्ग के देव भी मनुष्यभव पाने के लिए लालायित रहते हैं । स्वर्ग के देवों का सुख भी अस्थायी होता है; क्योंकि पुण्य के क्षीण होने पर उन्हें मनुष्य लोक में जन्म लेना पड़ता है :-

“क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥”

पुणिया श्रावक को स्वर्ग का सुख तो सहज ही मिल सकता था; परन्तु वह शाश्वत सुख चाहता था; इसलिए वह प्रभु के चरणों में समर्पित हो गया :-

लभेद् यदयुतं धनं तदधनं धनं यद्यपि  
लभेत नियुतं धनं निधनमेव तज्जायते ।  
तथा धनपरार्थकं तदपि भावहीनात्मकम्  
यदक्षरं पदद्वयान्तरगतं धनं तद्धनम् ॥

[अयुत ('अ' से युक्त) धन तो 'अधन' है और नियुत ('नि' से युक्त) धन 'निधन' (मृत्यु) है । यदि परार्थ (अगला आधा अंश) धन (न) प्राप्त किया जाय तो वह अभावात्मक है; इसलिए अक्षर (ईश्वर) के दोनों पदों (चरणों) के बीच मिलने वाला (वर्णमाला में 'पद' अर्थात् द और प के बीच 'धन' ही रहता है) मोक्ष रूपी धन ही सच्चा धन है ।]

यह मोक्ष धन तो भक्त अपने लिए चाहते हैं और जो क्षणिक धन उनके पास होता है, उसे परोपकार में लगा देते हैं । परिग्रह की ममता नष्ट करने के लिए वे दान करते हैं । बिन्दु- बिन्दु से सिन्धु बन जाता है । सिन्धु अपना जल उन बादलों को देता है, जो प्रसन्नतापूर्वक उसे धरती पर बरसा देते हैं । धरती भी अन्न स्वयं न खाकर किसानों को दे देती है । किसान अपने अनाज के ढेरों से जनता की भूख मिटाते हैं । परोपकार की यह परम्परा पवित्र है ।

परोपकारी अपनी शक्ति का उपयोग सर्जन में करता है, संहार में नहीं। भोग तो सभी प्राणी कर रहे हैं । उस में साहस की आवश्यकता नहीं होती । साहस की आवश्यकता होती है- दान में, त्याग में, परोपकार में।

परोपकार न करनेवाला धनवान् भी निर्धन है- विद्वान् भी मूर्ख है- जीवित भी मृतक है ! सभी प्राणियों को चाहिये कि तन-मन-धन-से सदा यथाशक्ति परोपकार करते रहें ।



## आत्मज्ञान

आत्मा के विषय में प्रवचन करना सरल है; किन्तु आत्म बोध के अनुरूप व्यवहार कठिन है। ज्ञान की परीक्षा व्यवहार से ही होती है।

किसी की प्रशंसा में बोलना ही तो पाँच मिनट भी मुश्किल से मिलते हैं और निन्दा के लिए घंटे निकल आते हैं। निन्दा का रस हमें पागल बना देता है। दूसरों की निन्दा करके लोग यह सोच कर प्रसन्न होते हैं कि हम उनसे अच्छे हैं। वे भूल जाते हैं कि निन्दा अपने आप में निन्दनीय है। एक शायर ने लिखा है :-

मैं बताऊँ आपको अच्छोंकी क्या पहिचान है  
जो है खुद अच्छे वो औरो को नहीं कहते बुरा !

एक अच्छा आदमी देश को आवाद कर सकता है तो बुरा उसे बर्बाद कर डालता है।

रूपी देह की अपेक्षा अरूपी आत्मा का महत्व अधिक है तो फिर लोग क्यों शारीरिक सुन्दरता पर मुग्ध होते हैं ? वे क्यों नहीं सोचते कि सुन्दर शरीर वाला भी दुर्जन हो सकता है और कुरूप शरीरवाला सज्जन भी हो सकता है ? सुन्दर शरीर तो एक वेश्या का भी होता है, परन्तु समाज में उसका सम्मान नहीं होता ! यह जानते हुए भी लोग सुन्दर शरीर के प्रति क्यों आकर्षित होते हैं ? एक कवि के शब्दों में :-

मनोहर दीखता यह देह पर सारा धिनौना है ।  
अशुचि-भंडार चिकने चामपर थे व्यर्थ भरमायें ॥

- सत्यप्रेमी

ऐसा वे क्यों नहीं सोचते ?

शुभाशुभ कर्म आत्मा के साथ लगे रहते हैं। हजारों गाये खड़ी हों, फिर भी बछड़ा उनमें से अपनी माँ को पहिचान लेता है और उसका पीछे-पीछे चलने लगता है; उसी प्रकार कर्म आत्मा के पीछे चलते हैं। इसीलिए कोई सुखी है, कोई दुखी है। आपके हृदय में दुखियाँ को देखकर अनुकम्पा नहीं आती ?

अपनी इन्द्रियों का गुलाम क्यों होते हैं ? इन्द्रियों को वह खिड़की-दरवाजों की तरह क्यों नहीं देखता आत्मा में वह दुर्भावों को क्यों आने देता

अयुत = दस हजार, नियुत = एक लाख, परार्ध = महाशय या ब्रह्मा की आधी आयु के वर्षों की संख्या के बराबर संख्या

हे ? आत्मा कोई कचरा-पटी नहीं है कि उसे कैसे भी दुर्भावों से भर दिया जाय !

उदाहरणार्थ आँख ही उन्नति और अवनति का केन्द्रबिन्दु है । आँख से प्रभु-प्रतिमा के दर्शन करके हृदय में उत्तम भाव भी लीये जा सकते हैं और भौतिक या शारीरिक सौन्दर्य को देखकर हृदय में कामना का कीचड़ भी भरा जा सकता है । जो विवेकी है, वह हृदय को मलिन करने की भूल कैसे कर सकता है ?

दो दृष्टियाँ होती हैं- मिथ्या और सम्यक् । मिथ्या दृष्टि जीव को सर्वत्र भोगसुख दिखाई देता है और सम्यग्दृष्टि को आत्मिकसुख ।

किररी बगीचे में गुलाब के पौधे को देखकर एक बालक रोने लगा । कारण फूलों पर उसने कहा :- “इतने सुन्दर फूल के साथ काटे निकल आये !” दूसरा बालक उसी पौधे को देखकर हँसने लगा । उसका कहना था :- “इन तीखे काँटों में भी कितने सुन्दर फूल खिल रहे हैं ?”

सम्यग् दृष्टि के अभाव का ही यह दुष्परिणाम है कि हम याद रखने की बातें भूल जाते हैं और भूल जाने की बातें याद रखते हैं । व्याख्यान में सुनी प्रभु महावीर की वाणी भर जाते ही भूल जाते हैं और यदि किसी ने कोई कठोर वचन कह दिया हो तो उसे जीवन-भर याद रखते हैं और परेशान होते रहते हैं । प्रभु की वाणी का एक वाक्य भी उद्धार कर सकता है - यदि सुनकर उसे याद रखा जाय ।

मरने से पहले, रोहिणीया चार से, उसके पिता ने कह दिया था कि महावीर की वाणी कभी मत सुनना ।

एक दिन रोहिणेय को उसी मार्ग से निकलना पड़ा, जिसके एक ओर प्रभु की देशना चल रही थी । उसने कानों में उँगलियाँ डाल लीं, किन्तु भागते समय पाँव में एक काँटा चुभ गया । कानों से हाँथ हटाकर उसने झटपट काँटा निकाला और फिर भाग खड़ा हुआ ।

दूसरे दिन वह पकड़ लिया गया । राजा ने अपराध कबूल करवाने के लिए एक नाटक किया । रात को अनिन्द्र सुन्दरियों के बीच उसे छोड़ दिया गया । एक सुन्दरी ने उससे कहा :- “पुण्योदय से आप मरकर इस स्वर्ग में आये हैं । हम सब अप्सराएँ आपकी सेवा में मौजूद हैं । यदि आपने पृथ्वीपर कोई बुरा काम किया हो तो बता दीजिये । हम इन्द्रदेव से आप को क्षमा दिला देंगी । अन्यथा आप को नरक में जाना पड़ेगा !”

रोहिणेय जब काँटा निकालने के लिए रुका था, तब कुछ वाक्य उसके कानों में पट गये थे । प्रभु ने देवों का लक्षण बताया था कि जमीन पर

उनकी परछाई नहीं गिरती- उनके गले का पुष्पहार नहीं मुरझाता- वे जमीन से कुछ ऊपर खड़े रहते हैं और पल के कभी नहीं झपकाने ।

रोहिण्य को देवों का लक्षण याद आ गया । लक्षण के अनुसार एक भी बात उन कथित अप्सराओं में मौजूद नहीं थी ।

वह समझ गया कि मेरे मुँह से अपराध कबूल करवाने के लिए ही यह सब नाटक किया जा रहा है । वह संभल गया । बोला :- “मैंने सब पुण्य के ही कार्य किये हैं और यह स्वर्ग पाया है । पाप तो एक भी नहीं किया ।

परिणामतः वह छूट गया । घर पर आकर उसने विचार किया कि दो मिनिट प्रभुवाणी सुनने से यदि मेरी जान बच सकी तो पूरा प्रवचन सुनने के कितना लाभ होगा ? उसका जीवन परिवर्तित हो गया और वह आत्मकल्याण करने में सफल हुआ ।

हम क्यों नहीं समझते कि हमारे कान ऐसी पवित्र वाणी सुनने के लिए ही हैं ? हम जो कुछ सुनते हैं, वह हमारे अवचेतन मन में भर जाता है और प्रसंग आनेपर प्रकट होता है । उससे हमारा भविष्य बनता-बिगड़ता है । ऐसा जान लेने पर भी क्यों हम श्रुतज्ञान की और ध्यान न देकर निन्दा सुनने में या कामनावर्धक संगीत सुनने में रस लेते हैं ?

देश के रक्षक प्रताप को भामाशाह ने अपनी समस्त सम्पत्ति दे दी ! क्षणिक सम्पत्ति से जितनी भलाई हो संक करनी चाहिये :-

**परोपकाराय सतां विभूतयः ।**

(सज्जनों की सम्पत्तियाँ परोपकारके ही लिए होती हैं)

यह जानकर भी हम क्यों परिग्रह के पीछे पड़े रहते हैं ? क्यों उसके लिए दौड़-धूप करके अशान्ति मोल लेते हैं ? क्यों जीवनपुष्प को मुरझा जाने देते हैं ?

आनार्यदेश में धर्मोपदेश के लिए जाने को तैयार साधु क्षेमंकर से गुरुजी ने कहा :- “वहाँ का मार्ग ऊबड़-खाबड़ है, भोजन और जल भी समय पर और पर्याप्त नहीं मिल सकगा, वहाँ के लोग भी बड़े क्रूर हैं । वे गालियाँ देंगे, अपमान करेंगे और मारपीट तक करेंगे !”

इस पर क्षेमंकर ने सारे परिषद एक फूल की तरह हँसते हुए सहने और हर हालत में अपने कर्तव्य का पालन करने का सूदृढ संकल्प प्रकट किया । फल स्वरूप गुरुदेव ने आदेश से वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में लग गये और सफल रहे ।

ऐसे कोई किसी को सुखी या दुःखी नहीं कर सकता । शुभाशुभ कर्मों से ही अनाकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ बनती हैं ।

झरोखे में खड़ी बहिन ने मनिवेष में गुजरते भाई को देखकर कहा :-  
“इनका शरीर पहले कैसा सुन्दर था और तपस्या के कारण अब सूखकर कैसा काटा हो गया है !”

यह सनकर राजा को आशंका हुई कि वह मुनि कहीं इसका पूर्वप्रमी तो नहीं ? राजा ने हुक्म दिया कि उस साधु की चमड़ी खींचकर लाई जाय । सिपाही गये । कसाई को चमड़ी खींचने का काम सौंपा गया । साधु ने शान्तिपूर्वक अपना तन कसाई को सौंप दिया और मन अरिहंत को । मुनि ने कसाई को कह दिया :- “मेरी हड्डियोंसे कहीं तुम्हारे हाथों में चमड़ी उगारते वक्त चोट न लग जाय ।”

उस प्राणान्त उपसर्ग को द्रष्टरहित माध्यस्थ्य भाव से सहने के फलस्वरूप मुनि के कर्म कट गये । उन्हें केवलज्ञान हुआ मोक्ष का शाश्वत सुख प्राप्त हुआ ।

मुनि की रत्नरंजित मँहपती को खाने की वस्तु समझकर एक चील ले उड़ी; किन्तु उसमें खाने योग्य कुछ भी नहीं था; इसलिए उसे चौंच से छोड़ दिया । मँहपती झरोखे में बहिन के पास गिरी । वह उसे देखकर मूर्छित हो गई । जब राजा को वास्तविकता का ज्ञान हुआ तो उस अपने विवेकहीन आदेश के लिए भार पश्चात्ताप हुआ । अन्त में राजा और रानी दोनों साधु- साध्वी बनकर आत्मकल्याण की साधना में लग गये ।

इसे कहते हैं- आत्मज्ञान ! कहाँ है ऐसा आत्मज्ञान, जो केवल चर्चा में नहीं, व्यवहार में भी दिखाई दे ।

## सच्चिदानन्द

परमात्मा को “सच्चिदानन्द” कहा जाता है । इस शब्द में तीन पद हैं- सत्, चित् और आनन्द ।

सत् का अर्थ है - सत्ता या अस्तित्व, चित् का अर्थ चैतन्य है और आनन्द का अर्थ है - शाश्वत अखण्ड अनन्त सुख ।

सत् और चित् तो प्रत्येक जीवमें हैं; क्योंकि उसका अस्तित्व है और वह जड़ से भिन्न है; परन्तु आनन्द के बदले उस में क्षणिक सुख है । यही आत्मा से परमात्मा का अन्तर है ।

कहा जाता है :- “अप्पा सो परमप्पा ॥” (शुद्ध गुण स्वरूप अपनी सबो की आत्मा परमात्मा स्वरूप है) यदि विषयों से प्राप्त होनेवाले क्षणिक सुख के पीछे न पड़कर आत्मा शाश्वत सुख की खोज में लग जाय और उसे प्राप्त कर ले तो वह परमात्मा बन जाय । सन्त, साधु, ऋषि, मुनि, महात्मा, ज्ञानी, ध्यानी, दार्शनिक और भक्त जीवन-भर इसी साधना में अर्थात् अनन्त सुख के अन्वेषण में लगे रहते हैं ।

समुद्र मन्थन से प्राप्त अमृतकलश को कहाँ रखा जाय ? यह प्रश्न जब खड़ा हुआ तो जितने भी सुझाव आये, वे सब निरस्त हो गये; क्योंकि सब जगह उसके नष्ट होने या चुरा लिये जाने की सम्भावना थी । अन्त में मनुष्य के हृदय में रखने का प्रस्ताव सर्वसम्पत्ति से पारित हो गया । तब से आनन्द का वह अमृतकलश वहीं सुरक्षित रूप से पड़ा है; परन्तु अपने हृदय की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता, जहाँ वास्तव में वह मौजूद है ।

फूल ने पुकारा :- “ए फल ! तू कहाँ है ?”

फूल बोला :- “तेरे हृदय में छिपा हूँ !”

कवी रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस संवाद के द्वारा वही बात कही है । महात्मा कबीर कहते हैं :-

“मोड़ूँ कहाँ दूँढे बन्दे  
मै तो तेरे पास में ॥”

अन्वयत्र वे कहते हैं :-

मन मथुरा दिल द्वारका  
काया काशी जान ।  
दसौ द्वारका देहरा  
ता मे ज्योति पिछान ॥

वह आत्मज्योति आठ कमों के आवरण में छिपी हुई है। इस आवरण को हटाने के लिए साधना करनी पड़ती है।

कममल से श्यामल आत्मवस्त्र को भक्तिजल से धोना है।

गान जंगल में दूब चरती है; परन्तु उसका मन बछड़े में होता है। नट रसगो पर बिना आधार के चलता है - दौड़ता है - नाचता है, परन्तु उसका मन सन्तुलनपर रहता है। पनिहार ने आपस में कितनी भी बातें करती रहीं, पर उनका मन घड़ों पर टिका रहता है। ठीक इसी प्रकार दुनिया के सारे काम करते रहने पर भी भक्त का मन भगवान् पर टिका रहता है।

जैसे झाड़ू लगाने से मकान स्वच्छ रहता है, वैसे ही जिनवाणी सुनने और याद रखने से विचार शुद्ध रहते हैं।

शुद्ध और बुद्धि जिसमें नहीं होती, वही मनमाना व्यवहार करके दुखी होता है। भक्ति में कैसी शक्ति होती है। एक दृष्टान्त द्वारा बताना चाहूँगा :-

किन्हीं राजा ने प्रसन्न होकर अपने चाकर से मनमानी वस्तु माँगने के लिए कहा। वह बोला :- “जब मैं द्वारके बाहर अपनी ड्यूटीपर रहूँ और आप मेरे पास से निकलें तब मेरे कानमें कहते रहें कि मैं भगवान् को न भूलूँ। बस, यही मेरी माँग है।”

राजा आते-जाते उस चाकर की इच्छा के अनुसार उसके कान में कहने लगा- “तुम भगवान् को मत भूल जाना।”

लांगों ने जब यह दृश्य देखा तो वे समझने लगे कि यह चाकर राजा को बहुत प्रिय है। हो सकता है, राजा ने इसे अपना गुप्तचर बना लिया हो। फल यह हुआ कि उस चाकर की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। यह था - भक्ति का चमत्कार।

सदेव, सगुरु और सुधर्म की उपासना से जब मोक्ष मिल सकता है, तब सांसारिक प्रतिष्ठा क्यों नहीं मिलेगी? वह तो बहुत साधारण वस्तु है।

कलापी ने कहा था :- “श्रद्धा कभी निष्फल नहीं होती। उससे अचिन्तित कार्य भी पूर्ण होते हैं। श्रद्धा जितनी अधिक गहरी होती है, आत्मकल्याण भी उतना ही जल्दी होता है।”

पहले पुस्तकें कम थीं, श्रद्धा अधिक थी। आज पुस्तकें बढ़ गई हैं।

“तद्विद्धि प्रणिपातेन ॥ - गीता

(प्रणाम करके ‘उस’ को जान लो)

पहले प्रणाम करके लोग ज्ञान प्राप्त करते थे; किन्तु आज ज्ञान प्राप्त करके भी प्रणाम करने में संकुचाते हैं - लज्जाते हैं।

श्रद्धा से प्राप्त ज्ञान संयम की ओर ले जाता है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार जार्ज बर्नार्ड शाने लिखा है।

अपने कुटुम्ब के बालकों के मुण्ड काटकर गमले में लगाये तो अच्छा नहीं लगेगा। उसी प्रकार झाड़ या पौधे से फूल तोड़ कर उन्हें फूल दानी में सजाना भी उचित नहीं है। सौन्दर्य दूर से देखने के लिए है, छू कर या मसलकर तहस-नहस करने के लिए नहीं। पुष्पों के सौन्दर्य और सौरभ को नष्ट करने का हमें क्या अधिकार है ?”

अहिंसा की यह दृष्टि विचारकता से उत्पन्न हुई है। विचारकता से ही संयम आया था।

सुदर्शन सेठ में - उनके यौवन पर मुग्ध होकर कपिला ने उसका लाभ उठाना चाहा। उसके जाल में फँसकर भी वे जल में कमल की तरह बच गये। बोले- “कपिला; ! मैं नपुंसक हूँ। मझ में वह पौरुष नहीं है, जिसकी कामना तू कर रही है।”

सुदर्शन सेठ की यह बात संयम की रक्षा के लिए थी, इसलिए असत्य होकर भी सत्य थी। स्वदारासन्तोष व्रत के धारक सुदर्शन सेठने किसी के घर अकेले न जाने की प्रतिज्ञा ले रखी थी। रूप और यौवन भी धन हैं। लुटेरों से इन्हें भी बचाने के लिए खूब सावधान रहना पड़ता है।

जब कपिला दासी ने महल के झरोखे से सुदर्शन सेठ को मनोरमा सेठानी और बच्चों के साथ देखा तो उसके मन में आग लग गई। वह समझ गई कि झूठ बोलकर सेठ ने मुझे उस दिन धोका दिया था। भेड़ के शरीर पर आग लग जाय तो वह इधर-उधर दौड़कर सब जगह आग लगाने की कोशिश करती है। ऐसा ही कपिला ने किया। उसने महारानी अभया की वासनाग्नि भड़का दी। फलस्वरूप पौषधशाळा में जब सेठ ध्यान में लीन थे, तभी उनका अपहरण करके उन्हें एकान्त कक्ष में रानी के सामने उपस्थित कर दिया गया।

मन जल जैसा तरल हो तो छोटे से कंकर से भी उसमें तरंग पैदा हो जाती हैं। इससे विपरीत यदि बर्फ जैसा सद्गुण हो तो पत्थर के प्रहार का भी उस पर कोई असर नहीं होता। सेठ का मन हिमशैल की तरह

शांत-व शान्त और सुस्थिर था। रानी के हाव- भाव का, कटाक्षों का, कामल शब्दों का एवं अंगप्रदर्शन का उनके मन पर कोई असर नहीं हुआ। इस प्रकार सारे प्रलोभन जब व्यर्थ रहे तब रानी ने अन्त में भय का प्रयोग किया। उसने धमकी दी कि यदि मेरी इच्छा तूम नहीं की तो मैं चिल्लाकर तुम्हें पाणदंड दिलवा दूँगी; किन्तु इस पर भी वे अविचलित रहे। शान्ति से प्रभु शान्तिनाथ का स्मरण करते रहे।

रानी ने आखिर अपने हाथों से अपनी दशा बिगाड़ ली और सेंठ पर बत्वाकर का झूठा आरांभ लगा दिया, राजा ने क्रुद्ध होकर शूली की सजा दे दी; किन्तु आखिर वही शूली उनके लिए सिंहासन बन गई अर्थात् उनका प्रतिष्ठा का कारण बनी। आज तक हम उनका यशोगान करते हैं- श्रद्धा से उनका नाम स्मरण करते हैं।

दुल्ली भ्रमरी का ध्यान करते-करते भ्रमरी बन जाती है, उसी प्रकार आत्मा परमात्मा का ध्यान करते-करते स्वयं भी परमात्मा बन जाती है। संयम से जीवन पवित्र और वन्दनीय बन जाता है।

हम जानते हैं कि चारित्र मोहनीय कर्म का उदय चारित्र ग्रहण करने में बाधक बनता है; फिर भी यदि संकल्प सुदृढ़ हो तो संयम ग्रहण करना सरल हो जाता है। संकल्प में से शक्ति अपने आप प्रस्फुटित होती है।

हम इनके कमजोर हो गये हैं कि हमारे लिए शय्या से उठकर चलना-फिरना तक असंभव-सा हो गया है; फिर भी यदि भवन में आग लग गई तो यह सुनते ही तत्काल उठ कर बाहर भागने की शक्ति शरीर में न जाने कहाँ से पैदा हो जाती है। यही बात संयम के लिए समझें।

सारांश यह है कि श्रद्धा, भक्ति, विनय और सुदृढ़ संकल्प के साथ संयम को अपनाने पर कोई भी मनुष्य स्वयं सच्चिदानन्द बन सकता है।



## सत्संग

हवा के लिए कोई कमरा निर्धारित नहीं होता कि जब साँस लेना हो, उसमें चले जाएँ और शेष समय अन्यत्र रहें। उसी प्रकार धर्म के लिए कोई स्थान या अवस्था निर्धारित नहीं है। जैसे हवा सर्वत्र होती है, वैसे ही धर्म भी जीवन में सर्वत्र होना चाहिये।

अइमुता मुनि, हेमचन्द्राचार्यजी आदि अनेक महापुरुष ऐसे हुए हैं, जिन्होंने बचपन में ही संयम स्वीकार कर लिया था। पहले से जो प्रकाश के मार्ग पर चल पड़ते हैं, वे धन्य हैं। धर्माचरण उनके लिए सुगम होता है; परन्तु जो लोग सांसारिक मोह-माया के आँधरे में भटकने के बाद संयमसूर्य का प्रकाश पाते हैं, वे और अधिक धन्य हैं; क्योंकि धर्माचरण उनके लिए दुर्गम होता है- अपने मन को मोक्षमार्ग की ओर मोड़ने के लिए उन्हें अधिक श्रम करना पड़ता है - अधिक तप करना पड़ता है- अधिक सावधान रहना पड़ता है।

संयम पाने के लिए संयमी का सान्निध्य जरूरी है। हिन्दु में कहावत है :- “खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है।” यह संगका रंग है, जो सब पर चढ़ता है। पारस के सम्पर्क से लोहा सोने में बदल जाता है। पानी की बूंद कमलपत्र पर हीरे की तरह चमकती है, सीपी में पड़े तो मोती बन जाती है और तप्त तवे पर पड़े तो भाप बनकर उड़ जाती है। नर्मदा नदी में बहने वाले पत्थर शंकर बन जाते हैं और कंकर शालिग्राम ! ग्रीष्मकाल में पथिक सघन वृक्ष की छाया में कैसा विश्राम पाता है ? निर्झर के निकट प्यासा व्यक्ति कैसी तृप्ति पाता है ? जिज्ञासु भी ज्ञानी के पास वैसी ही तृप्ति पाता है ! मुमुक्षु भी, महापुरुषों के सान्निध्य में वैसा ही विश्राम पाता है ! अर्जुनमाली दूढ़प्रहारी, चण्डकौशिक जैसे दुष्टों को भी यदि आत्मशान्ति प्राप्त होती है तो उसके मूल में सत्संगति के अतिरिक्त और क्या है ?

सन्तों की संगति कितनी दुर्लभ है ? यह सन्त सुन्दरदासजी से जानिये। वे कहते हैं :-

तात मिले पुनि मात मिले सुत  
भात मिले जुवती सुखदाई  
राज मिले गज बाज मिले सुख-  
साज मिले मनवांछित पाई ।

लोक मिले सुरलोक मिले विधि  
लोक मिले वैकुण्ठ हि जाई  
'सुन्दर' और मिले सब ही सुख  
सन्त-समागम दुर्लभ भाई ॥

जैसे पप से पानी ऊपर चढ़ता है, वैसे ही सत्संग से मन ऊपर चढ़ता है ऊर्ध्वगामी बनता है; अन्यथा पानी की तरह मन का स्वभाव नीचे की ओर जाना है ।

मन मोम जैसा है । शारत्र श्रवण के संस्कारों से उसे उत्तम ढाँच में ढाला जा सकता है, स्थूल भोग से सूक्ष्म त्याग ओर ले जाया जा सकता है ।

बहुरूपिये तरगाला ने साधुवेष में रहकर मांगलिक सुनाया तो उससे ऊदा मेहता का उद्धार हो गया । स्वयं तरगाला पर भी सुप्रभाव हुआ साधुवेष का और उसने सम्पत्ति का लोभ छोड़ दिया । साधु की संगति से नयसार का जीवन परिवर्तित हुआ और उत्तरोत्तर उत्कर्ष पर पहुँचकर वह तीर्थंकर बना । विजय हीरसुरीश्वर के समागम से अकबर अहिंसाप्रेमी बना और आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने महाराजा कुमारपाल को परम आर्हत बना दिया ।

एक कहावत है :- “जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन !”

सार्मषभोजी की अपेक्षा निरार्मष- भोजी के विचार अच्छे होते हैं । पेट में यदि अपवित्र आहार पहुँचगा तो आचार-विचार भी अपवित्र हो जायँगे ।

गोचरी के बाद एक साधु को तत्काल नींद आ गई तो गुरु को आशंका हुई । जिस सेठ के घर से वह साधु आहार लाया था, उससे पूछने पर पता चला कि वह निर्माल्य आहार था । मन्दिर से लाया हुआ सस्ता माल उसने साधु का दान कर दिया था । उतरा हुआ भोजन ग्रहण करने से मनोवृत्ति भी उतर जाती है । रोटी के टुकड़ों के लिए कुत्ता अपनी पूँछ हिलाता है; परन्तु हाथी गौरव के साथ मन-भर लड्डु खा जाता है । मन्दिर में अर्पित द्रव्य का उपयोग करने से संभ की उन्नति नहीं, अवनति होती है । पुरुषार्थ से अजित द्रव्य के उपयोग से ही संभ की उन्नति हो सकती है ।

पुरुषार्थ या श्रम के अभाव से आज घरों में क्या हालत हो रही है ? पहले पत्नी प्रेमपूर्वक अपने हाथों से रसोई बनाकर पतिदेव को परोसती थी; किन्तु आज रसोइया थाली में रोटी फेंक कर खिलाता है । रसोइये में प्रेम नहीं होता । उसकी दृष्टि वेतनपर होती है; भोजन की शुद्धि पर वह उतना ध्यान नहीं दे सकता जितना गृहिणी दे सकती है ।

अशुद्ध आहार से स्वास्थ्य भी गड़बड़ा जाता है :-

“केशतः स्वरभङ्गस्यात्  
मेधां हन्ति पिपीलिका ॥”

(भोजन में केश चला जाय तो स्वरभंग हो जाता है- गला बसुरा हो जाता है और चींटी चली जाय तो वह बुद्धि का नाश कर देती है)

मक्खी से उल्टी हो जाती है, मकड़ी खाने में आ जाने से कोढ़ हो जाता है तथा अन्य अनेक जन्तुओं से खाज-खुजली, फोड़े-फुसी हो जाते हैं। रोगों का प्रभाव मन पर भी होता है। इस प्रकार अशुद्ध आहार से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का नाश हो जाता है।

पूणिशा श्रावक का मन एक दिन सामायिक में नहीं रमा तो उसने पत्नीसे पूछा कि आज आहार में कोई चीज बाहर से आई थी क्या? बहुत सोचने के बाद पत्नी का याद आई। बाली :- “हाँ चूल्हे में आग जलाने के लिए एक जलता हुआ कड़ा पड़ौसन से लाई थी !”

बिना श्रम के प्राप्त कंडे जैसी साधारण वस्तु का सूक्ष्म प्रभाव मन पर कैसे होता है? इसका यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

बत्तीस दाँतों और दो होठों की सुरक्षा में रहने वाली जीभ से एक कवि ने क्या अच्छा कहा है :-

“रे जिहवे ! कुरु मर्यादाम्  
भोजने वचने तथा ।  
वचने प्राण - सन्देहो  
भोजने चाप्यजीर्णता ॥”

(हे जीभ ! तू भोजन और वचन में मर्यादा का ध्यान रख; अन्यथा भोजन से अजीर्ण हो जायगा और वचन से प्राण संकट में पड़ जायँगे)

जीभ के दो काम हैं- खाना और बोलना। दोनों में संयम जरूरी है। उसे संयम सिखाने के लिए उपवास का विधान है, जिसे ‘अनशन’ नामक ब्राह्मण तप कहते हैं। उपवास का एक अर्थ है - (उप= समीप, वास= निवास) आत्मा के समीप रहना। भौतिक पदार्थों के समीप बहुत रह विषय। कभी-कभी आत्मा के सान्निध्य में भी रह कर देखिये कि उसमें कैसा आनन्द आता है। आत्मा की संगति में रहने की प्रेरणा सत्संग से मिलती है।

डिब्बे में कोई सोता रहे या जागता रहे, ट्रेन चलती ही रहती है। उसी प्रकार दुनियाँ भी चलती ही रहती सम् उपसर्ग पूर्वक सू (सरकना) धातु से संसार बना है। वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता - किसी की पर्वह नहीं करता - निरन्तर गतिशील रहता है। कहावत है :-

Time and tide waits for none.

(समय और ज्वार-भाटा किसी की प्रतीक्षा नहीं करता)

हमें भी संसार की तरह निरन्तर गतिशील रहना है। हमारी गति मोक्ष की ओर होनी चाहिये।

प्रसाधन सामग्री के विज्ञापन अखबारों में खूब आते हैं; परन्तु असली सोना बिना विज्ञापन के बिक जाता है। महँगी वस्तुओं की अपेक्षा सस्ती वस्तुओं का ही विज्ञापन अधिक होता है; इसलिए आप प्रचार के चक्र में मत आइये। आत्मा का विज्ञापन अखबारों में नहीं मिलने वाला है। उसके लिए शीतल साधु-संगति की शरण में जाना होगा :-

चन्दनं शीतलं लोके  
चन्दनादपि चन्द्रमाः ।  
ताभ्यां चन्दनचन्द्राभ्याम्  
शीतला साधुसंगतिः ॥

(संसार में चन्दन शीतल होता है। चन्दन से अधिक चन्द्र शीतल होता है; किन्तु चन्दन और चन्द्र दोनों से अधिक शीतल होती है - साधुसंगति)

जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, क्रोध, अभिमान, माया (छल), लोभ, मोह, निन्दा, पेशून्य, अत्याचार, अनाचार, दुराचार, अभाव, संयोग, वियोग, आदि से सन्ध्यास्त मनुष्यों को सत्संग से ही सन्तोष और शान्ति का अनुभव हो सकता है - यह ध्रुव सत्य है।

## निर्भय बने

जो पेढी केवल नौकरों के द्वारा चलाई जाती है, वह बर्बाद हो जाती है; किन्तु किसी एक मालिक की सत्ता में चलाई जाय तो आबाद हो जाती है। इन्द्रियों पर भी यदि विवेकशील मन की सत्ता रहे तो सार। कार्य व्यवस्थित चल सकता है।

रंगीन आइस्क्रीम आँख, नाक और जीभ को आकर्षित भले ही करती रहे; परन्तु गले के टॉसिलस से डरने वाला मन उसे स्वीकार करने से इन्कार कर देता है।

इन्द्रियों को अपनी और करने वाली हजारों वस्तुएँ दुनिया में भारी पड़ी हैं। उन्हें पाने के लिए मनुष्य कठोर परिश्रम करता है। जो वस्तु प्राप्त हो जाती है, उसका सुख समाप्त हो जाता है। फिर कोई नई वस्तु पाने का प्रयास किया जाता है। यह चक्र चलता ही रहता है और जीव इस चक्र में फँसा रहता है।

भक्ति और ज्ञान से विशुद्ध मन उस चक्र से जीव को बाहर निकाल सकता है। वह इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोक सकता है।

सुकवि पंडित श्री सूरजचन्द्रजी सत्य प्रेमी ने अपनी एक भाव-पूर्ण कविता में लिखा है :-

इन्द्रियों के न छोड़े विषय में अड़े  
जो अड़े भी तो संयम के कोड़े पड़े ॥  
तन के रथ को सुपथ पर चलाते चलें  
सिद्ध अर्हन्त में मन रमाते चलें ॥

मन को सिद्ध और अरिहन्त देव में रमाने की जरूरत है।

जवान स्त्री के शव को देखकर एक कामुक युवकने कामना की पूर्ति का विचार किया। एक चोर ने उसके शरीर पर पहिने हुए सोने-चाँदी के गहनों को लूटने का विचार किया। एक सियार ने उसका मांस खाने का विचार किया; परन्तु एक ज्ञानी भक्त ने शरीर की नश्वरता का विचार किया और उसका वैराग्य सूदृढ हो गया।

लोग स्वाद के लिए खाते हैं, किन्तु ज्ञानी क्षुधावेदनीय रोग के उपशमन के लिए औषध के समान अनासक्त भावसे आहार ग्रहण करते हैं। मोक्ष के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए शरीर को टिकाये रखना जरूरी है; किन्तु भय शरीर को सुखा देता है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने लिखा है :-

भय से मुक्त होना हो तो ईन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो’

लाकमान्य तिलक का कथन है :-

“भय और जय परस्पर विरोधी है

यदि जय पाना चाहते हो तो निर्भय बनो”

रोते हुए बच्चे को चुप रखने के लिए कल्पित “हौंवे” का डर दिखाते हैं; जो अनुचित है। इससे बच्चे डरपोक और कायर बन जाते हैं।

शक्रस्तव में “अभयदयाण” पद से जिनदेव की स्तुति की गई है। वे जीवों को अभयदान करते हैं, स्वयं निर्भय रहते हैं और दूसरों को निर्भय बनाते हैं।

भय हमारे मन में होता है, जगत् में नहीं। जब तक अज्ञान है, तब हमारे मन में होता है। अँधेरे में सड़क पर पड़ी रस्सी को कोई साँप समझ ले तो वह काँप उठेगा; किन्तु रस्सी का ज्ञान होने पर भय भी मिट जायगा।

जिस के पास बहुत सम्पत्ति है-उच्च सत्ता है-अभिमान है, उसे चौकीदार रखने पड़ते हैं। अकिंचन सदा निर्भय रहता है।

जिसमें वीरता है, वह निर्भय ही रहेगा। जिस वनमें चण्डकौशिक रहता था, उसमें न जाने का अनुरोध महावीर स्वामी से किया जाता है; परन्तु निर्भयता पूर्वक वे वहाँ जाते हैं और प्रचण्ड चण्ड कौशिक को शान्त बना देते हैं। अंगारा रुई को भले ही जला दे, परन्तु पानी में डाल दिया जाय तो वह स्वयं ही बुझ जाता है। इसलिए नीतिकार राजस्थानी कवि कहता है :-

“आगलो जो आग होवे

थू होजे पाणी !”

(यदि सामने वाला व्यक्ति क्रुद्ध हो - आग हो तो तू शीतल जल की तरह शान्त बन जाना)

जो दूसरों को मारता है, उसे मार खानी पड़ती है; किन्तु दूसरों को मारता है, उसकी लोग सेवा करते हैं। पद सेवा के लिए होता, अभिमान के लिए नहीं। पद पर रहकर जो उपकार नहीं करता, उस के विषय में एक संस्कृत काव्य कहता है :-

अधिकारपदं प्राप्य

नोपकारं करोति यः ।

अकारस्य ततो लोपः

‘क’ कारो द्वित्वमाप्नुयात् ॥

(अधिकार पद पर रह कर जो उपकार नहीं करता, उसंके ‘अ’ का लोप हो जाता है और ‘क’ का द्वित्व अर्थात् “अधिकार” का “धिककार” हो जाता है)

जो अधिकारी अपने उच्च पद के अनूकूल निर्धारित कर्तव्य का पालन नहीं करता, वह धिक्कार का पात्र बनता है । अपने से उच्च अधिकारियों के सामने वह डरता रहता है । इससे विपरीत कर्तव्य का पालन निर्भय रहता है ।

निभयता के गुण ने एक साधारण माली को राष्ट्रपति पद तक पहुँचा दिया था । उस माली का नाम था-अब्राहम लिंकन । एक अनार का रस निकालकर जब उसने अपने मालिक को पीने के लिए दिया तो एक घूंट लेते ही मालिक ने उसे डाँटा :-

“अरे ! यह रस तो कड़वा लग रहा है ? क्या तुम जानते नहीं ?

लिंकन ने कहा :- “बिल्कुल नहीं; क्योंकि मैं पेड़ोंको सींचने का काम करता हूँ, फल चखने का नहीं !”

इस उत्तर से मालिक उसकी प्रामाणिकता पर प्रसन्न हुआ और उसे उच्च पद पर नियुक्त किया । इसी प्रकार क्रमशः आगे बढ़ता हुआ एक दिन वह राष्ट्रपति के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हो गया ।

यदि अपराध हो जाय तो निर्भय व्यक्ति प्रायश्चित्त से पीछे नहीं हटता। द्रुढप्रहारी ने चार व्यक्तियों की हत्या कर दी थी; किन्तु प्रायश्चित्त करने के लिए साधु बनकर वह उसी गाँव में पहुँचा । लोगों ने उस पर पत्थर बरसाये, गालियाँ बरसाईं, थूका, हर तरह से उसे अपमानित किया; परन्तु वह न डरा, न भागा ! “मेरे कर्मों की निजंरा हो रही है” ऐसा सोचकर उसने सारे उपसर्ग सह लिये । फलस्वरूप वही खड़े खड़े उसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया !

इससे विपरीत लक्ष्मणा साध्वी ने लोक निंदा के भय से मायापूर्वक प्रायश्चित्त किया । इससे पाप का जहर नहीं उतरा और उसे अनेक भवों में भटकना पड़ रहा है ।

प्रायश्चित्त वह पवित्र झरना है, जिसमें स्नान करने से आत्मा के सारे दाग धुल जाते हैं ।

“दास कबीर जतन से ओढी,  
ज्यो की त्यो धर दीनी चदरिया”।

आत्मा ही वह चादर है, जिसे महात्मा कबीर सावधानी से ओढ़ते हैं और उस पर कर्मों का दाग नहीं लगने देते

आठ कर्मों में से एक है-मोहनीय । इसके दो भेद हैं- दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । पहले के तीन प्रकार हैं- मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय । दूसरे के दो भेद हैं-कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय ।

क्रोध, मान, माया, लोभ में से प्रत्येक के अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन-ये चार-चार भेद होने से कषाय-चारित्रमोहनीय के कुल सोलह भेद हो जाते हैं ।

नोकषाय के नौ प्रकार हैं-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ।

इस प्रकार चारित्र मोहनीयकर्म के कुल पच्चीस भेदों में से एक ‘भय’ है ।

जब तक इस कर्म का उदय रहेगा, तब तक जीव डरता रहेगा । स्वयं डरने और दूसरों को डराने से इस भय नामक नोकषाय चारित्र मोहनीय कर्म का बन्ध होता है ।

जिसमें साहस होता है, वीरता होती है, वह न तो डरता है और न किसी को कभी डराने का ही प्रयास करता है

हम वीर के ही नहीं, महावीर के उपासक हैं, जो प्राणीमात्र को अभय देने वाले हैं । किराी भी संकट का हमें साहस के साथ मुकाबला करने को सदा तैयार रहना चाहिये ।

धीरज, शान्ति और साहस को स्थायी रूप से मन में बसा कर हम भय को भगा सकते हैं ।

आइये, ऐसा ही करें-अपनी मानसिक कमजोरी को मिटाकर हम भी प्रभु महावीर के समान निर्भय बनें ।



## शिक्षार्थी

बचपन में जो संस्कार पड़ जाते हैं, वे जीवन-भर टिकते हैं। सुलसा पर ऐसे धार्मिक संस्कार पड़ गये थे कि अंबड़ को उसके सामने झुकना पड़ा।

प्रभु महावीर ने अंबड़ के साथ सती सुलसा को धर्मलाभ का संदेश कहलाया था। उसने ब्रह्मा, विष्णु, महेश और अन्त में स्वयं महावीर का नकली रूप धारण करके उससे सुलसा को अपनी ओर आकर्षित करने का भरपूर प्रयास किया; किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। फिर असली रूप में सुलसा के सामने जाकर प्रभु का सन्देश सुनाया। अंबड़ श्रावक इस दृढता से प्रभावित हुआ और उसका भी उद्धार हो गया।

सम्यग्ज्ञान भीतर से आता है, बाहर से नहीं। हीर को घिसा जाय तो उसकी चमक बढ़ती है; किन्तु यह चमक बाहर से नहीं; भीतर से आती है। इँट के भीतर चमक नहीं होती; इसलिए घिसने पर उससे मिट्टी झरती है-वह टूटकर बिखर जाती है, परंतु चमक नहीं हो सकती। भरत महाराजा चक्रवर्ती सम्राट् थे, वैभवशाली थे; फिर भी दर्पण-भवन में अपने शरीर के स्वरूप पर विचार करते-करते उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। भीतरी संस्कार समय पर संयोग पाकर बाहर आ गये।

चलती ट्रेन में बैठे एक व्यक्ति ने जब ट्रेन के रुकने पर यह सुना कि टर्मिनल (अन्तिम स्टेशन) आ गया है, गाड़ी खाली करो तो वह विरक्त हो गया। सोचा कि आयुरूपी ट्रेन का भी इसी प्रकार टर्मिनल आने वाला है।

विवाह के समय समर्थ स्वामी रामदास ने मंडप में “सावधान” शब्द सुना और वे तत्काल सावधान हो कर बिना विवाहित हुए ही वहाँ से भाग गये और सन्यासी बन कर जनकल्याण का उपदेश देने लगे।

सुनी हुई बात पर चिन्तन करने से वैराग्य किस प्रकार उत्पन्न होना है- इस बात के ये दो उदाहरण हैं। वैराग्य आत्माको परमात्मा में रूपांतरित कर सकता है।

जो इस लोक में सुख चाहते हैं, वे क्रूर हैं। जो परलोक में सुख चाहते हैं, वे मजदूर हैं और जो लोक-परलोक की पवाह न करके परमात्मा बनना चाहते हैं; वे शूर हैं। जैन धर्म शास्त्र इसी बात की शिक्षा देते हैं कि व्यक्ति को शूर बनना चाहिये।

यदि अपकारी पर क्रोध करना शूरता है तो क्रोध ही सबसे बड़ा अपकारी है :-

“अपकारिषु कोपश्चेत्

कोपे कोपः कथं न ते ?”

(यदि तू अपकारियों पर क्रोध करता है तो क्रोध पर क्रोध क्यों नहीं करता ?) शूरता संस्कारों का परिणाम है । संस्कार आते हैं- सुयोग्य शिक्षण से ।

आज के शिक्षण से चरित्र गायब हो गया है, विनय का नाश हो गया है और विवेक का विलय हो गया है । यही कारण है कि आज विवेकानन्द, वीरचन्द्र गाँधी आदि के समान प्रतिभाशाली व्यक्ति दिखाई नहीं देते, जिन्होंने विदेशों में जाकर भारतीय संस्कृति की धाक जमाई थी ।

लार्ड कर्जन ने बंगालयूनिवर्सिटी के उपकुलपति सर आशुतोष मुखर्जी से, जब विशिष्ट शिक्षा पाने के लिए कम्ब्रिज जाने का आदेश दिया तो, उत्तर पाया कि इस आदेश का पालन मेरी माँ की इच्छा पर निर्भर है ।

माँ के इन्कार करने पर दूसरे दिन अपना त्यागपत्र सामने रखकर लार्ड कर्जन से कहा :- “मेरी माँ का आदेश न होनेसे मैं विदेश नहीं जा सकूँगा । यदि न जाने से आप रुष्ट हों तो मेरे त्याग पत्र को स्वीकृत कर लें ।”

यह सुनते ही मुखर्जी को छाती से लगा कर कर्जन बोले :- “आज मुझे दर्शन हुए है” - भारतीय संस्कृति की जीवित प्रतिमा के ! धन्य है आप !”

ऐसे मातृभक्त मुखर्जी आज के शिक्षण से उत्पन्न नहीं हो पा रहे हैं । यह केवल भारत की नहीं, पूरे विश्वकी समस्या है । स्कूल-कॉलेज, सिनेमा टॉकीज और होटल के अतिरिक्त और कोई स्थान आज का छात्र नहीं जानता। धर्म उसक लिए एलर्जिक है- रोग है । उसकी स्थिति दयनीय है । “ज्ञानस्य फलं विरतिः”(ज्ञान का फल पाप का त्याग, पापों से अटकना है)

इस बात को वह भूल गया है । उसमें हेमचन्द्रचार्यजी अथवा शंकराचार्य बनने की आशा नहीं की जा सकती !

एक शालानिरीक्षक जो आठवीं कक्षा का निरीक्षण करके नौवीं में पहुँचे । जिसने आठवीं में सन्तोषजनक उत्तर दिया था, उसी छात्र को नौवीं में देखकर निरीक्षक ने पूछा :- “तुम यहाँ कैसे ?”

छात्र ने कहा :- “मेरा मित्र आज यहाँ अनुपस्थित है । मैं उसके बदले आ गया हूँ ।”

इस से क्रुद्ध होकर निरीक्षक ने प्रधानाध्यापक से शिकायत की। प्रधानाध्यापक ने कक्षा शिक्षक को डाँटा तो वह बोला- “सर, असली कक्षा शिक्षक मैच देखने गये हैं। मैं उनका डुप्लीकट हूँ !”

इस पर काँपते हुए कक्षाध्यापक ने निरीक्षक के पाँव पकड़ लिये और कहा :- “मुझे बचाइए; अन्यथा मेरे बाल-बच्चे भूखें मर जायँगे !”

निरीक्षक ने हँसते हुए कहा :- “डरने की कोई बात नहीं। मैं स्वयं भी डुप्लीकट निरीक्षक हूँ !”

इस प्रकार जहाँ सर्वत्र डुप्लीकेशन चल रहा हो, वहाँ सच्ची शिक्षा कैसे मिल सकती है ?

शिक्षा के बाधक तत्त्व पाँच हैं :-

अहं पंचहिं ठाणे हिं, जोहिं सिक्खा न लंभई ।

थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥

(अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य - इन पाँच कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं होती)

पहला बाधक तत्त्व है - अभिमान। Pride has a fall (अभिमान का पतन होता है) हिन्दी में कहावत है - “घमंडी का सिर नीचा !”

“झुकता वहीं है जिसमें जान है अकड़ता मुड़दे की पहचान है।

अभिमानि अपने को गुरु से भी अधिक जानी समझता है। उसके प्रश्न जिज्ञासा की शान्ति के लिए नहीं, गुरु की परीक्षा के लिए होते हैं - गुरु को निरूत्तर करने के लिए होते हैं - उसे नीचा दिखाने के लिए होते हैं। ज्ञान के लिए विनय आवश्यक होता है। विनीत ही विद्या का उपार्जन कर सकता है। कोई भी गुरु अविनीत शिष्य से प्रसन्न नहीं रह सकता और प्रसन्नता के बिना वह विद्या वितरित नहीं कर सकता।

शिक्षा के लिए दूसरा बाधक होता है- क्रोध। स्वामी सत्यभक्त ने लिखा है :-

क्रोध बड़ा भारी नशा,

पागलपन है क्रोध ।

क्रोधी पा सकता नहीं,

कर्तव्यों का बोध ॥

कर्तव्य का खयाल क्रोधी को नहीं रहता। अभिमान यदि उबलता जल है तो क्रोध उसकी भाप है। अभिमान से क्रोध अधिक बुरा है।

आभमान केवल अपने लिए पातक है; परन्तु क्रोध दूसरों के लिए भी पातक है। क्रोधी खूद जलता है और दूसरों को भी जलाता है। शिक्षा प्राप्त करने के लिए जिस बुद्धि की सबसे अधिक आवश्यकता होती है, क्रोध उसी को नष्ट कर देता है।

तीसरा बाधक तत्व है - प्रमाद। यह मानव को पंगु बनाता है - श्रम से दूर रखता है - सफूर्ति रहित मुर्दा बना देता है। प्रमादी व्यक्ति आवश्यक को आराम समझता है - उसी में सुख का अनुभव करता है। यह दोष उसके लिए आदर्श होता है :-

अजगर करे न चाकरी  
पछी करे न काम।  
दास मलूका कह गये  
सबके दाता राम ॥

प्रमादी परमुरवापक्षी होता है - पराधीन होता है- उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है- उसके लिए प्रगति का द्वारा बन्द हो जाता है। प्रमाद ऐसा नशा है, जिसमें व्यक्ति स्वयं अपना भान भूल जाता है; फिर शिक्षा को भला कैसे याद रखा सकता है ?

चौथा बाधक है - रोग। शारीरिक हो या मानसिक दोनों प्रकार का रोग भयाकर होता है। शिक्षा प्राप्त करने के लिए चित्त की एकाग्रता जरूरी है; किन्तु जब तक रोग मिट नहीं जाता, तब तक चित्त एकाग्र नहीं हो सकता। सारा ध्यान रोग खींच लेता है; इसलिए अध्ययन की ओर ध्यान केन्द्रित नहीं हो सकता।

शिक्षा के लिए अन्तिम (पाँचवाँ) बाधक होता है- आलस्य। इस से मनुष्य निकम्मा हो जाता है। आलसी कोई भी काम करना नहीं चाहता। अपना काम वह दूसरों पर डाल देता है; भले ही दूसरे लोग काम बिगाड़ दें। बिगाड़े काम से होने वाली हानि भी वह सह लेता है परन्तु स्वयं अपने हाथ से कुछ भी करना नहीं चाहता। आलस्य ऐसा शत्रु है, जो अपने शरीर के भीतर रहता है :- घबलस्यं हि मनुष्याणां, शरीरस्थो महारिपुः। शिक्षार्थी इस महान शत्रु का नाश करके ही सफलता पाता।

## धर्म और विज्ञान

अनात्मवादी विज्ञान से हमें कोई प्रयोजन नहीं, हमें तो आत्मवादी विज्ञान और धर्म का मिलन करना है। धर्म से रहित विज्ञान वा उस बन्दर जैसा है, जिसने सोये हुए राजा की गर्दन में बैठी हुई मक्खी को उड़ाने के लिए तलवार का प्रहार करके राजा के सिर को धड़ से अलग कर दिया था !

भौतिक सामग्री जुटा कर सुविधा प्रदान करना एक बात है और संहारक सामग्री का निर्माण करके विनाश को निम्नित करना दूसरी। नाल के पाइप में कचरा भरा हो तो जल का प्रवाह रुक जाता है, उसी प्रकार मन में स्वार्थ भरा हो तो परमाणु बम जैसे घातक अस्त्रों का आविष्कार और निर्माण होने लगता है तथा उससे वास्तविक विकास रूक जाता है।

जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए धन है, परन्तु लोगों में आवश्यकता से अधिक धन एकत्र करने की मनोवृत्ति ने जन्म ले लिया है। प्रभु ने परिग्रह को पाप के समान त्याज्य माना था; किन्तु उनके अनुयायी अधिक से अधिक परिग्रह में फँसते जा रहे हैं।

हर एक परिग्रही अपने से बड़े परिग्रही की ओर देखकर मन में असन्तोष की आग भड़का लेता है और अपने से छोटे परिग्रही को देखकर अहंकार के हाथी पर सवार हो जाता है। दोनों ही स्थितियों में अमृतमय जीवन विषमय बन जाता है।

अपने शरीर को मनुष्य सजाता है, परन्तु चमड़ी के भीतर क्या है ? इस बात का विचार नहीं करता :-

रुदिरत्रिधातुमज्जा-

मेदोमांसास्थिसंहतिर्देहः ।

स बहिस्त्वचा पिनद्ध-

स्तस्मान्नो भक्ष्यते काकैः ॥

(रूधिर, त्रिधातु, मज्जा, मेद, मांस और हड्डियों का संग्रह है- शरीर ! वह बाहर चमड़ी से ढका हुआ है; इसीलिए उस कोए नहीं खाते !)

किसी भी फेक्ट्री को देखिये। उसमें जिस रो मटोरयल का उपयोग होता है, वह बहुत खराब होता है, किन्तु प्रोडक्शन (उत्पादन) सुन्दर होता है; परन्तु दूसरी ओर शरीर है, जो श्रेष्ठ आत्माराम एण्ड कंपनी लिमिटेड

की फव्वती है। उसमें जिस रॉ मटेरियल (भोजनसामग्री) की सफ़ाई की जाती है, वह बहुत सुन्दर सुगन्धित और स्वादिष्ट होती है, परन्तु उसका प्रोडक्शन ? उसका नाम लेना भी अच्छा नहीं लगता !

ऐसे शरीर के लिए पाप करना मूर्खता है। शरीर को स्वस्थ रखना तो कर्तव्य है; परन्तु उसके पोषण के लिए पापचरण करना अकर्तव्य है। शरीर से परोपकार कीजिये- साधुओं के दर्शन कीजिये- तीर्थयात्राएँ कीजिये- ध्यान कीजिये-तपस्याएँ कीजिये; परन्तु शरीर के लिए या द्वारा पाप मत कीजिये।

कुछ लोग कहते हैं :- “महाराज ! पेट की समस्या बहुत बड़ी है। उसके लिए पाप न करें तो क्या करें ?”

इसके उत्तर में कहना है - “भाई ! ईमानदारी ही सबसे अच्छी नीति है। औनगटी इज द बेस्ट पोलिसी, यदि आप ईमानदारी से श्रम करते रहें तो पेट या लेकर पेटी तक का समाधान हो सकता है। बेईमानी का भाँडा फूटने पर आपकी ईमानदारी पर भी लोग विश्वास नहीं करेंगे। कहावत भी है :-

जैसे हाँडी काठ की,  
चढ़े न दूजी बार !

एक बार बेईमानी की कलई खुल जाने पर आपका सारा धन्धा ही चौपट हो जायगा। इससे विपरीत ईमानदारी के साथ किया गया श्रम जीवनभर आपको कमाई देता रहेगा।”

धर्मशास्त्र हमें ईमानदार रहने की प्रेरणा देते हैं। वे आत्मा के स्वरूप का परिचय देते हैं। आत्मा एक नित्य तत्त्व है। शरीर अनित्य है - नश्वर है। जैसी आत्मा हमारी है, वैसी ही दूसरों की है। हम यदि दूसरों की बेईमानी पसंद नहीं करते तो दूसरे हमारी बेईमानी कैसे पसंद करेंगे?

धर्मशास्त्र हमें संयम भी सिखाते हैं। श्रीकृष्ण महाराज अपनी कन्याओं से कहते हैं :- “यदि अपने आपको महारानी बनाना चाहो तो प्रभुं नेमिनाथ के मार्ग पर चलो - संयम ग्रहण करो। इससे आत्मकल्याण तो होगा ही, समाज में सम्मान भी खूब मिलेगा। इससे विपरीत यदि गुलामी करना चाहो-किसी की दासी बनना चाहो तो राजमहल में ही रहो। तुम्हारा विवाह कर दिया जायगा।”

संयम का पालन स्वर्ग पाने या सम्मान पाने के लिए नहीं; किन्तु मोक्ष पाने के लिए होता है। जैसे खेत में अनाज के साथ घास-फूस अपने

आप पैदा हो जाती है, वैसे ही मोक्ष के लिए प्रयत्न करनेवालों का सम्मान या स्वर्ग अपने आप मिल जाता है; परन्तु घास-फूस की तरह ही सम्मान और स्वर्ग उन्हें फीके लगते हैं ।

अर्धरी रात में बाहर जानेवाले हाथ में टोच लेकर निकलते हैं अथवा टोच वाले के साथ जाते हैं और यदि यह भी संभव न हो तो जानकारों से रास्ते की जानकारी लेकर चलते हैं । ठीक उसी प्रकार कुशल व्यक्ति इस संसार में संयमी बनकर या संयमियों के साथ भ्रमण करते हैं अथवा उनसे जानकारी प्राप्त करके मृतते हैं ।

संयमियों का-साधुओं का या ज्ञानियों का सामान्य संभव न हो तो धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय करके कर्तव्याकृतव्य का निर्णय करते हैं :-

“तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते  
कार्याकार्यं व्यवस्थितौ ॥”

(कार्य-अकार्य का निर्णय करने के लिए मूझे शास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिये)

मन की गुफा में सिंह की तरह कषाय छिपा रहता है, जो मौक-बेमौके प्रकट होकर जीवन को आशान्त बनाता रहता है; इसीलिए ज्ञानियों ने मन को शुद्ध बनाने पर जोर दिया है । कहते हैं :-

“मनं चंगा तो कढौती में गंगा ॥”

किसी कवि ने बाँसुरी से पूछा कि तुझे इतना प्रेम श्रीकृष्ण क्या करते हैं तो उसने उत्तर दिया :- “मैं भीतर से पोली हूँ-स्वच्छ हूँ-सरल हूँ !”

मन भी आत्मारूपी कृष्ण की बाँसुरी है । उसमें निर्मलता हो- सरलता हो तो आत्मा के लिए वह प्रेमपात्र बन सकता है ।

विषय और कषाय ग्यारहवें गुणस्थानक तक पहुँची हुई आत्मा को भी परेशान करते हैं और असावधान होने पर उस पहले गुणस्थानक में पटक देते हैं ।

इसलिए निरन्तर जागरूक रहने की आवश्यकता है । कहने से करना अधिक अच्छा होता है । सदाचारी व्यक्ति के आदर्श जीवन से ही लोग प्रेरणा ग्रहण कर लेते हैं । प्रगति के लिए आचार की जरूरत है, प्रचार की नहीं ।

प्रगति के उच्च शिखर पर कोई उछल कर नहीं पहुँच सकता । उच्चतम आदर्श को सामने रखकर धीरे-धीरे उस ओर बढ़ना पड़ता है :

धीरे-धीरे रे मना !  
धीरे सब कुछ होय ।  
माली सीचे सौ घडा  
रितु आये फल होय ॥

“हे प्रभा ! आपके ही समान मुझे पूर्ण वीतराग बनना है ।” ऐसी सुदृढ़ भावना को सम्बल बना कर साधक आगे बढ़ता रहता है । कहा है :-

घघभावना भवनाशिनी ॥”

(भावना भव-भ्रमण को नष्ट करती है)

पूवभद्र में शालिभद्र का जीव एक गरीब माता का पुत्र था । उसकी हठ पूरा करने के लिए इधर-उधर से माँग कर लाई गई सामग्री से माता ने पुत्र के लिए खीर बनाई । थाली में खीर परोसकर माता पानी भरने चली गई । बालक में भावना जगती है कि यदि कोई साधु आ जाय तो आहारदान करके खाऊँ । संयोग से साधु का शुभागमन होता है । वह संपूर्ण खीर का दान सहर्ष कर देता है । फलस्वरूप अगले शालिभद्र के भव में उसे अखूट सम्पदा प्राप्त होती है । त्याग की भावना बनी रहती है ।

सतत संघर्ष ही जीवन है -

Life of man is the field of battle—

(मानवजीवन एक रण क्षेत्र है)

युद्ध की तरह इसमें जीत-हार होती रहती है । सच्चा खिलाड़ी न जीत में फुलता है और न हार में रोता है । विवेकी व्यक्ति सुख और दुःख में मानसिक सन्तुलन बनाये रखता है ।

प्रभु महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र की तीसरे अध्याय की इकतीसवीं गाथा में कहा है :-

“विन्नाणेण समागम  
धम्मसाहणमिच्छिउं ॥”

(धर्म के साधनों का विज्ञान से समन्वय होना चाहिये)

धर्म के बिना विज्ञान शैतान बना देता है और विज्ञान के बिना धर्म हेतान । इन्सान बनने के लिए दोनों की आवश्यकता है ।



## भोगों का त्याग

जीवन लेने के लिए नहीं, देने के लिए है- माँगने के लिए नहीं, अर्पण करने के लिए है - संग्रह के लिए नहीं, वितरण के लिए है । किसी विचारक ने लिखा है :-

“मत लो भले ही स्वर्ग मिलता हो; किन्तु दे दो भले ही स्वर्ग देना पड़े !”

सच्चा आनन्द त्याग में है, भोग में नहीं; सन्तोष में है, तृष्णा में नहीं। कहा है :-

जो दस बीस पचास भयें सत  
होइ हजार तु लाख बनेगी  
कोटि अरब्ब खरब्ब अनन्त  
धरापति होने की चाह जगेगी ।  
स्वर्ग-पताल का राज करूँ  
तृषणा मन में अति ही उमडेगी  
“सुन्दर” एक सन्तोष बिना शठ !  
तेरी तो भूख कभी न मिटेगी ॥

मृत्यु का बुलावा आने पर सारी संपत्ति जब यहीं छोड़कर जाना है, तब लोभ क्यों किया जाय ?

आपके घर पुण्य से प्राप्त परिवार होगा, पहरेदार भी होगा; परन्तु मौत आकर जब आपके घर का द्वार खटखटायेगी, तब न कोई परिवार का सदस्य ही आपको बचा सकेगा और न पहरेदार ही ! उस समय न प्रथम श्रेणी का चिकित्सक आपकी रक्षा कर सकेगा और न कोई बैरिस्टर कोर्ट से स्टे ऑर्डर (स्थगन-अदेश) ही ला सकेगा !

“संयोगा विप्रयोगान्ताः  
मरणान्तं हि जीवितम् ॥”

(सब संयोगों का अन्त वियोग से होता है और जीवन का अन्त मृत्यु से)

जब अन्त में सब का त्याग करना ही पड़ेगा, तब पहले से उनका त्याग क्यों न किया जाय ? यही सोचकर साधु-सन्त अनगार बन जाते हैं ।

विषय-कषाय के त्याग से आत्मा में प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न होती है। कोमल अंगोवाली महासती सीता ने महान् शक्ति शाली रावण का मुकाबला कैसे किया था ? रावण की ढेरियों के समान हजारों नारियों से एक तिन्के की तरह सुशीला स्त्री अधिक श्रेष्ठ है।

जीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिए चौकन्ना रहना होगा। हम जानते हैं कि एक छोटा-सा छेद नाव को डुबो देता है एक छोटी सी चिनगारी पूरे गोडाउन को ही नहीं, गाँव को जला देती है। इसी प्रकार एक छोटी सी भूल मानव को विराट से वामन बना सकती है।

छोटा सा दाग भी सुन्दर पोशाक की शोभा को नष्ट कर देता है। उसी प्रकार छोटा-सा दोष भी हमारी प्रतिष्ठा की मिट्टी में मिला सकता है। आचरण की शुद्धि ही जीवन की शोभा है- सभ्यता है- भड़कीली पोशाक नहीं।

स्वामी विवेकानन्द की पोशाक देखकर हँसने वाली एक अमेरिकन महिला से उन्होंने कहा था :- “बहिन ! मैं जिस देश (भारत) का निवासी हूँ, उस में सभ्यता का निर्माता चरित्र होता है, दर्जी नहीं।”

एसा सभ्य चरिसम्पन्न विनीत व्यक्ति जहाँ भी जाता है, वहाँ सन्मान पाता है। सद्गुणों से ही हमारी आत्मा सुसंस्कृत होती है। यदि हम देवलोक के स्वरूप पर विचार करें तो हमें त्याग का महत्त्व समझमें आ सकता है।

पहले बारह देवलोक हैं। फिर नौ प्रेतेयक और पाँच अनुत्तर विमान। सबसे ऊपर है - सिद्धशिला।

पहले और दूसरे देवलोक के देव देवियों के साथ पाँचों इन्द्रियों के विषयसुख का भोग करते हैं। तीसरे और चौथे देवलोक के देव स्पर्शमात्र से भोगसुख का अनुभव करते हैं। पाँचवें और छठे स्वर्ग के देव देवियों के रूप को देखकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। सातवें और आठवें स्वर्ग के देव देवियों के संगीत को सुनकर ही सम्पूर्ण भोगसुख पा जाते हैं। नौवें, दसवें बारहवें और बारहवें स्वर्गों के देव देवियों के शरीर का केवल स्मरण करने ही रोमांचित हो जाते हैं।

बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देवों की कामना शान्त हो जाती है। प्रेतेयक देव ज्ञानियों की सृक्तियोंपर मनन करते हैं और अनुत्तर विमान वासी ज्ञानियों के वचनों पर अनुराग रखते हैं और यह अनुराग ही उनकी मुक्ति में बाधक होता है।

इस वर्णन से सिद्ध होता है कि ज्यों-ज्यों कामभोग की लालसा शान्त होती जाती है और ज्ञानियों के उपदेश पर श्रद्धा पैदा होती जाती है, त्यों

त्यों अधिक से अधिक सुख प्राप्त होता जाता है। वचनों का अनुयायि छूटता है - मनुष्यभाव में; इसलिए इस भव में उत्पन्न जीव ही मोक्ष का अधिकारी बन सकता है और आश्वतसुख पा सकता है।

भोग में अशान्ति है, त्याग में शान्ति। प्रतिमा की पूजा में भी त्याग की प्रधानता होती है। पूजा के आठ प्रकार क्रमशः ये हैं :- (१) जानपूजा, (२) चन्दन पूजा, (३) पुष्पपूजा, (४) धूपपूजा, (५) दीपकपूजा, (६) अक्षतपूजा, (७) नेत्रेद्य पूजा और (८) फलपूजा।

पहली पूजा के समय पूजक सोचता है कि जान जिस प्रकार प्रतिमा के मूल को धोता है, उसी प्रकार मेरी आत्मा पर जो कर्ममल लगा है, उसे मुझे धोकर साफ करना है।

दूसरी पूजा के समय सोचता है कि जिस प्रकार चन्दन स्वयं निसकर अपनी शीतलता और सुगन्ध से दूसरों को सुख देता है, उसी प्रकार मुझे भी स्वयं संकट सहकर दूसरों को सुख पहुँचाना है।

तीसरी पूजा के समय सोचता है - फूल के समान मेरा जीवन भी क्षणिक है, उसे सुन्दर सुकोमल और सुवासित बनाना है, तपों की तरह नीक्षण और असह्य नहीं।

चौथी पूजा के समय सोचता है कि जिस प्रकार धूप का धुआँ उल्लसगामी होता है, वैसे ही मुझे भी उल्लसगामी बनना है, कर्मशः उन्नति के शिखर पर चढ़ना है।

पाँचवीं पूजा के समय सोचता है कि दीपक से जिस प्रकार उज्यकाय हट जाता है, उसी प्रकार प्रभु के श्रुतज्ञान से (आगम के रूप में विद्यमान उपदेश से) मेरे अज्ञान को मुझे हटाना है।

छठी पूजा के समय सोचता है कि जिस प्रकार अक्षत उकरल है, उसी प्रकार मुझे भी अपनी आत्माका, जो अखण्ड है, पूर्ण उन्नयन बनाना है।

सातवीं पूजा के समय सोचता है कि नेत्रेद्य की तरह विविध आहार करके चार गतिनों से बहुत-बहुत भटक चुका हूँ अब मुझे प्रभु के समान अनादारी सिद्धपद प्राप्त करना है।

अन्तिम पूजा के समय सोचता है कि फल पौध का सर्वोत्तम विकार है, वेश ही मोक्ष जीवन का सर्वोत्तम विकास है, पर वृक्षमें फल से अधिक मधुर कोई वस्तु नहीं होगी, उसी प्रकार जीव में मोक्ष से अधिक मधुर कुछ भी नहीं है। प्रभु ने वह मोक्ष सुख प्राप्त किया है; मुझे भी प्राप्त करना है।

प्रभु की प्रतिमा को हम ऐसी वस्तुएँ अर्पित करते हैं, जो हमें जीवन में बहुत प्रिय लगती हैं। इस प्रकार त्याग का अभ्यास करते हैं। कहा है :-

“त्यागाच्छान्तिरन्तरम् ॥”

(त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त होती है।)

जैन धर्म में त्यागियों का ही सम्मान किया जाता है। अरिहन्त और सिद्ध - ग दो देव हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन गुरु हैं। ये पाँचों पर त्यागियों के पद हैं। नमस्कार महामन्त्र में इन्हीं पाँचों पदों को वन्दन किया जाता है।

सुदेव और सुगुरु के बाद सुधर्म का विश्लेषण करके उसे चार भागों में विभक्त किया गया है - दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप।

भोगविलास में रुचि तो संसार के सभी जीवों में होती है, परन्तु जिन भव्य जीवों की रुचि तत्त्वज्ञान में होती है, वे ही आत्मकल्याण कर पाते हैं। धर्मशास्त्रों के प्रति यह रुचि (श्रद्धा) ही दर्शन है।

श्रद्धा को विवेक की आँख चाहिये। विवेक से श्रद्धा शुद्ध होती है। विवेकशून्य श्रद्धा अन्धश्रद्धा बन जाती है। धर्मशास्त्रों के प्रति श्रद्धा ही पर्याप्त नहीं है। उनका अध्ययन भी आवश्यक है। शास्त्रों के अध्ययन से - प्रवचनों के श्रवण से - ज्ञानियों के साथ बैठकर चर्चा करने से विवेक की आँख खुलती है, उसे ज्ञान कहते हैं।

श्रद्धापूर्वक शास्त्रों से प्राप्त ज्ञान का आचरण चारित्र है, जिसमें प्रवृत्ति रूप पाँच समितियों और निवृत्तिरूप तीन गुणियों का समावेश होता है।

चारित्र के पालन में जो परीषह (भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि बाईस) और उपसर्ग (त्रिविध उपद्रव) आते हैं, उन्हें समभाव और शान्ति से सहना तप है। जैसे शास्त्रों में अनशनादि छह बाह्य और प्रायश्चित्तादि छह आभ्यन्तर कुल बारह प्रकार के तपों का वर्णन आता है। तप से कर्मों की निर्जरा होगी है - आत्मा हल्की होती जाती है।

इस प्रकार दो सुदेव, तीन सुगुरु और चार सुधर्म के योग से नवपद बनते हैं। इन नव पदों की पूजा, आराधना और साधना से जीवन परम पद (मोक्ष) का अधिकारी बनता है। मोक्ष के महान् मधुर फल का बीज है - भागों का त्याग !

## दुर्लभ चतुरंग

तिमिर से तेज की ओर बढ़ने का प्रयास करनेवाले जीव के लिए शास्त्रों में चार पुरुषार्थों, चार सुखशय्याओं एवं चार दुर्लभ अंगों का वर्णन आता है। क्रमशः हम उनपर विचार करेंगे।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- ये चार पुरुषार्थ हैं। जैसा कि कहा है : -

धर्मार्थकाममोक्षाणाम्  
यस्यैकोऽपि न विद्यते ।  
अज्ञागलस्तनस्येव  
तस्य जन्म निरर्थकम् ॥

[धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - इन चारों में से एक भी पुरुषार्थ जिसके जीवन में नहीं होता, उसका जन्म बकरी के गले में लटकने वाले स्तनों की तरह निरर्थक होता है (बकरी के उन स्तनों से दूध नहीं निकलता)]

आज सारी दुनिया में अर्थ और काम का ही बोलबाला है; धर्म और मोक्ष की और ध्यान देने की किसी को फुरसत ही नहीं मिलती; इसी लिए इतनी अधिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं कि सभी राष्ट्रीय नेता उन से परेशान हैं।

सब से पहला पुरुषार्थ धर्म है। अर्थ के उपार्जन में भी धर्म (ईमानदारी, नैतिकता) की आवश्यकता होती है और अर्थ (धन) के उपयोग (परोपकार) में भी। दान करने से पुण्य होता है और पुण्य से धन की प्राप्ति होती है। इस प्रकार धर्म और अर्थ आपस में एक दूसरे पर निर्भर हैं। उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। तीसरा पुरुषार्थ है - काम। गीता में लिखा है :-

धर्माविरुद्धो भूतेषु  
कामोऽस्मि भरतर्षभ !

(हे अर्जुन ! मैं प्राणियों में धर्म के अविरुद्ध काम हूँ)

जो काम धर्म के विरुद्ध है, वह पाप है- व्यभिचार है - त्याज्य है। काम को धर्म की मर्यादा में रहना चाहिये। शास्त्रों में श्रावक-श्राविकाओं के लिए चौथा अणुव्रत इसी लिए बनाया गया है। श्रावक “स्वदारारसन्तोष” का और श्राविकाएँ “स्वपति सन्तोष” का पालन करें तो उनका काम धर्म को मर्यादा में रहेगा।

इस प्रकार जिसके जीवन में धर्म ओतप्रोत हो जाता है, उस में समस्त सद्गुणों का धीरे-धीरे निवास होने लगता है। सद्गुणों में त्याग और संयम की परकाष्ठा होने पर- तपस्या से कर्मों का क्षय हो जाने पर अन्तिम ज्ञान और अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष का आनन्द मिलता है।

वह आनन्द शाश्वत होता है, स्थिर होता है। दिन-भर परिश्रम करने के बाद ही विश्राम का आनन्द लेने के लिए मनुष्य सोता है। सोने के लिए शय्या का उपयोग करता है। शास्त्रकारों ने जीव के लिए चार सुखशय्याएँ बताई हैं। :- (१) श्रवण, (२) मनन, (३) माध्यस्थ्य और (४) आत्मचिन्तन।

प्रभु की वाणी को गुरुमुख से सुनना 'श्रवण' है। श्रवण करनेवाला ही श्रावक कहलाता है। सुनने वाला ही जान सकता है। महापुरुषों के अनुभव शास्त्रों के रूप में मौजूद हैं। जो विशिष्ट विद्वान हैं, वे तो शास्त्रों का अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त कर लेंगे; परन्तु अन्य सब लोग गुरु मुख से व्याख्यान सुनकर ज्ञान प्राप्त करते हैं।

दूसरी शय्या है - मनन। पशु खाने के बाद जुगाली करते हैं। इससे पाचन अच्छा होता है। इसी प्रकार श्रुतज्ञान पर मनन करना चाहिये। जो कुछ सुनने में आया हो, उस पर विचार करना चाहिये। बिना विचार किये पढ़ना या सुनना वैसा ही व्यर्थ हो जाता है, जैसा बिना पचाये खाना। मनन करने से सुना हुआ ज्ञान पुष्ट होता है।

तीसरी शय्या है - माध्यस्थ्य। इसका मतलब है दूसरों के दोषों पर उपेक्षा करना। लोगों को दूसरों की लड़ाई देखने में दूसरों की निन्दा सुनने में - दूसरों के दोषों की चर्चा करने में रस आता है; किन्तु धर्म प्रेमी यह सब प्रपञ्च पसंद नहीं करता। वह अपने दोषों पर ही ध्यान देता है, दूसरों के दोषों पर नहीं।

चौथी शय्या है - आत्मचिन्तन। इसका मतलब है अपने आपके विषय में विचार करना। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? क्यों आया हूँ? मेरे जीवन का प्रयोजन क्या है? प्रयोजन को पा रहा हूँ या नहीं? कौन सी कमजोरी उस उपाय के अवलम्बन में बाधक हैं? उस कमजोरी को दूर करने के लिए मैं क्या कर रहा हूँ? ऐसे प्रश्नों पर विचार करने से वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है, जो जीव को मोक्ष मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है।

प्रभु महावीर स्वामी ने चार दुर्लभ तत्त्वों की चर्चा की है :-

चत्तारि परमंगाणि

दुल्लहाणि य जंतुणो ॥

मणुस्सत्तं सुई सद्धा

सजमम्मि य वीरियं ॥

[प्राणियों के लिए दुर्लभ (बहुत कठिनाई से प्राप्त होने वाले) चार अंग परम (श्रेष्ठ) हैं- मनुष्यता, श्रुति, श्रद्धा और संयम का पालन ।]

चौरासी लाख जीवयोनियों में भटकते हुए जीव को पण्यों का विशाल पुंज एकत्र होने पर मनुष्य शरीर मिलता है । मनुष्य ही मनन कर सकता है और अपने कर्मों का क्षय करके मोक्ष पा सकता है । पशु अपना दुःख शब्दों से प्रकट नहीं कर सकता, मनुष्य कर सकता है; क्योंकि उसे एक समृद्ध और विकसित भाषा का ज्ञान होता है; इसलिए पशु से मनुष्य श्रेष्ठ है । मनुष्य शरीर पाकर भी कई लोग दुष्ट बन जाते हैं - दुबलों को सताते हैं - दूसरों की निन्दा करते हैं । ऐसे मनुष्यों से तो पशु ही श्रेष्ठ होते हैं, जो ऐसे बुरे कार्य नहीं करते ।

शास्त्र की गाथा में “माणुस्सत्त” शब्दका प्रयोग है अर्थात् मनुष्यता को दुर्लभ बताया गया है । सहानुभूति, स्नेह, अनुकम्पा, परीपकार आदि मानवता के अंग हैं । इन गुणों को आत्मसात् करनेवाला ही वास्तव में मानव है; अन्यथा वह दानव है । दानवता सुलभ है, मानवता दुर्लभ ।

दूसरा दुर्लभ अंग है - श्रुति अर्थात् शास्त्रों का श्रवण करना । प्रभु के वचनामृत का पान करने से धार्मिक जीवन की पूर्ति होती है । प्रथम सुखशय्या के रूप में इस पर विचार किया जा चुका है ।

तीसरा दुर्लभ अंग है- श्रद्धा । मनुष्य-भव में शास्त्रों के श्रवण का अवसर भी आ जाय, किन्तु यदि श्रद्धा पैदा न हो तो उसका लाभ नहीं मिल सकता । यदि सुनने के बाद कोई शंका हो तो जिज्ञासा के रूप में रखकर ज्ञानी गुरुओं से उसका समाधान पा लेना चाहिये । कहा है :-

यस्याग्रे न गलति संशयः समूलो

नैवासो क्वचिदपि पण्डितोक्तिमेति ॥

(जिसके सामने अपना संशय जड़मूल से न उखड़ जाय, उसे कभी ‘पंडित’ नहीं कहते !)

पंडित मुनियों से शंकाओं का निवारण कर लेने पर श्रद्धा उत्पन्न होती है । यह श्रद्धा ही हमारे जीवन में परिवर्तन लाती है ।

चौथा दुर्लभ अंग है - संयम का पालन । श्रद्धा हो जाने पर भी प्रसाद के वशीभूत प्राणी संयम से कतराता है । संयमी जीवन में आनेवाले परीषहों और उपसर्गों की संभावना से वह मबराता है । परिवार का मोह उसे रोकता है; इसलिए प्रभु ने संयम को सब से अधिक दुर्लभ बताया है ।

जो लोग संयमियों के सम्पर्क में रहकर उन के जीवन को निकट से

देखते हैं। उनकी मनभयता और सुखशान्ति से आकर्षित होते हैं। उनको प्राप्त होने वाले असाधारण सम्मान से प्रभावित होत है, उनके लिए संयम दुर्लभ नहीं रह जाता। वे संयमी जीवन को अंगीकार करके सहर्ष आत्मकल्याण के मार्ग पर चल पड़ते हैं और दुसरों को भी इस पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं।

एक बार महाराजा कुमारपाल ने आचार्य देवन्दरसूरि से कहा :- “आप मुझे स्वर्णसिद्धि का प्रयोग सिखा दें, जिससे मैं प्रजाजनों में स्वर्ण बाँट कर सब को सम्मान और सुखी बना सकूँ।”

सूरिजी बोले :- “यदि स्वर्ण से ही लोग सुखी हो सकते तो तीर्थंकर देव भी सब को स्वर्ण का ही दान करते, उपदेश का नहीं। तृष्णा ही दुःख का कारण है। सुख का निवास सन्तोष में है - संयम में है।”

कुमारपाल संयम का महत्त्व समझ गये। हमें भी समझ कर संयम की ओर बढ़ना है।



## ज्ञान से मोक्ष

जो दिखाई देता है, उसे क्या देखें ? जो नहीं दिखाई देता, वही देखने योग्य है; लेकिन उस अरूपी पदार्थ को ज्ञान चक्षु से ही देखा जा सकता है, चर्मचक्षुओं से नहीं ।

कौन खोलेगा ज्ञानचक्षु ? संयमी साधु या ज्ञानी गुरु !

अज्ञानतिमिरान्धानाम्  
ज्ञानाञ्जन-शलाकया ।  
चक्षुरुन्मीलितं येन  
तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

(अज्ञान के अन्धकार से अन्धों की आँख को ज्ञानरूपी अंजन शलाका से खोलने वाले गुरु को मैं नमन करता हूँ ।)

जम्बूकुमार के ज्ञानचक्षु सुधर्मा स्वामी के उपदेश से खुल गये । वे अपनी नवोढाओं को सांसारिक सम्बन्धों की असारता समझाते हैं और जिनेश्वर से सम्बन्ध जोड़ने की सलाह देते हैं, जो कभी नहीं टूटता, जिसमें वियोग की कोई सम्भावना नहीं है ।

चोरों का सरदार प्रभव चोरी करने आता है और इस उपदेश को जम्बूकुमार से सुनकर उसकी भी आँखें खुल जाती हैं ।

फलस्वरूप जम्बूकुमार जब दीक्षा लेते हैं, तब पाँच सो चोर साथियों सहित प्रभव भी दीक्षित हो जाते हैं । गुरुदेव के सान्निध्य में श्रुतज्ञान प्राप्त करके संयम और तपस्या के बल पर प्रगति करते हुए वे आचार्य प्रभवस्वामी के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं ।

गुरुदेव की कृपा से दृष्टि में ऐसी ही निर्मलता आ जाती है । कहावत है :-

“जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि !”

दुर्योधन से राजसभा में पूछा गया कि अच्छे आदमी कौन-कौन हैं तो बोला - “सिर्फ मैं ही अच्छा हूँ विपरीत युधिष्ठिर से पूछा गया कि बुरे आदमी कौन-कौन हैं तो बोले :- “सिर्फ मैं ही बुरा हूँ !”

चंडकौशिक की दृष्टि में विष था और महावीर प्रभु की दृष्टि में क्षमा

का अमृत । अमृत विष को शान्त कर देता है । महावीर के मुखारविन्द से उपदेश के मकरन्दबिन्दु झरते हैं । :-

संबुज्झह किं न बुज्झह

सबोही खलु पेच्च दुल्लहा !”

(हे चण्डकौशिक ! समझ, तू भला समझता क्यों नहीं ? मरने के बाद यह गमझ तेरे लिए दुर्लभ होगी ।)

वह समझ जाता है- क्रोध का त्याग कर देता है - उसका आतंक समाप्त हो जाता है । उसके प्रति लोगों का दृष्टिकोण भी बदल जाता है ।

प्रभु ने उत्तराध्ययन सूत्र में दृष्टि के दो प्रकार बताये हैं - अमांगलिक और मांगलिक ।

पहली दृष्टि से सुख में भी दुःख दिखाई देता है और दूसरी से दुःख में भी सुख । पीलिया के रोगी को जिस प्रकार सभी वस्तुएँ पीली नजर आती हैं, वैसे ही अमांगलिक दृष्टि वाले को सर्वत्र प्रतिकूलताएँ ही दिखाई देती हैं ।

भौतिक सामग्री की प्रचुरता जिनके पास होती है, उनसे यदि हम अपनी तुलना करके ईष्या की आग में जलते रहें तो यह मजह एक मूर्खता होगी; क्योंकि जिसे हम सुखी समझते हैं, वह भी अपनी वर्तमान सम्पत्ति से असन्तुष्ट है । वह भी अपने से बड़े धनवान् की बराबरी करने के लिए दिनरात दौड़ धुप करता रहता है ।

महात्मा शेखसादी के जूते फट गये । बिना जूतों के उन्हें चलने-फिरने में तकलीफ होने लगी । खुदा से जूतों की एक जोड़ी माँगने के लिए वे मस्जिद की ओर लपके । मस्जिद के द्वारा पर एक ऐसे आदमी को बैठे हुए उन्होंने देखा जिसकी दोनों टाँगें नहीं थीं तो वे उल्टे पाँव लौट आये और खुदा को इस बात के लिए शुक्रिया अदा करने लगे कि उनकी दोनों टाँगें तो कमसे कम सही-सलामत हैं । इस प्रकार उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन होते ही वे सुखी हो गये ।

कुत्तों ने भौक-भौक कर नींद हराम कर दी तो मकान मालिक सुबह उठ कर खूब बक-बक करता रहा; किन्तु पड़ोसियों के कहने से जब उसे पता चला कि कुत्तों के भौकने से चोर भाग गये थे, तब उसकी नाराजी खुशी में बदल गई !

ऐसे सैकड़ो उदाहरण हमारे आसपास मिल सकते हैं, जब दृष्टिकोण बदलने पर अनुभूति बदल जाती है; इसलिए अपनी दृष्टि को सदा अनुकूल बनाये रखना चाहिये जिससे अशान्ति मन में प्रवेश न कर सके ।

मांगलिक दृष्टि हमेशा दूसरों के गुण देखती है, जिसमें उन्हें अपनाया जा संक और अपने दोष देखती है, जिससे उन्हें सुधारा जा सके। इस प्रकार यह दृष्टि अधिक से अधिक सज्जनों की सृष्टि करती है।

अमांगलिक दृष्टि दूसरों को दुःखी देखकर खुश होती है: इसलिए दूसरों को सताने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करती है। उसे दुष्ट बनाकर ही दम लेती है।

जल में डूबते किसी चूहे को एक हंस ने बचा लिया। उस समय वह मारे ठण्ड के ठिठुर रहा था; इसलिए दया कर के उसे उसने अपने पंखों के नीचे छिपा लिया, जिससे बाहर की ठंडी हवा उसे न लगे और शरीर की गर्मी से उसे राहत मिले; किन्तु राहत पाकर चूहे ने हंस के पंखों को ही कुतर डाला? फलस्वरूप हंस उड़ नहीं सका। अमांगलिक दृष्टिवाले दुष्ट अपने उपकारी पर भी उपकार करनेवाले ऐसे ही चूहे जैसे होते हैं।

गुरु कृपा से प्राप्त मंगलमय दृष्टि ही समयदृष्टि है - सम्यक्त्व है- सदिचरकता है- शुद्ध भावना है, जिसको प्राप्त किये बिना पूजा हो या प्रभुदर्शन, सामायिक हो या प्रतिक्रमण, भक्ति हो या भजन, तपस्या हो या प्रत्याख्यान- कोई भी धार्मिक क्रिया सफल नहीं हो सकती! जैसा कि कल्याणमन्दिर स्तोत्र में कहा है :-

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि  
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।  
जातोऽस्मि तेन जन-बान्धव ! दुःखपात्रम्  
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥

(हे जनबन्धु प्रभो ! मैंने आपके उपदेशों को खूब सुना है, आपकी खूब पूजा की है तथा आपके खूब दर्शन किये हैं : फिर भी निश्चयपूर्वक मैंने आपको भक्ति-भाव से मन में स्थापित नहीं किया; इसीलिए मैं दुःखों का पात्र बना हुआ हूँ; क्योंकि भावशून्य क्रियाएँ कभी सफल नहीं होतीं।)

सद्गुरुओं के सान्निध्य से ज्ञानचक्षु खुलने पर अरूपी तत्व का साक्षात्कार होता है, जिसे आत्मा कहते हैं। यह एक नित्य तत्व है। शरीर बदल जाते हैं; परन्तु आत्मा नहीं बदलती। वह आनन्दमय होती है। प्रसन्न रहना और दूसरों को प्रसन्न रखना उसका स्वभाव होता है।

आत्मज्ञ सदा आशाओं को वश में रखते हैं। वे आशाओं के वश में नहीं रहते। वे जानते हैं :-

आशाया ये दासा -

स्ते दासाः सर्वलोकस्य ।

आशा दासी येषाम्

तेषा दासायते लोकः ॥

(जो आशा के दास होते हैं, वे सारे संसार के दास होते हैं; किन्तु आशा जिनकी दासी होती है, उनका दास संसार होता है)

आशा, इच्छा, तृष्णा और भोगवासना ही जीव को भवभ्रम में भटकाते हैं। यदि हम छाया को पकड़ने के लिए उसका पीछा करें, तो भागते-भागते थक जायँगे, परन्तु वह पकड़ में नहीं आयगी। यही हालत विषय सुखों के पीछे भागने वाले जीवों की होती है।

यदि हम छाया का पीछा छोड़ कर सूर्य की ओर मुँह करके खड़े हो जायँ- सूर्य की ओर दौड़े तो छाया हमारे पीछे-पीछे भागती चली आयगी। इसी प्रकार जो लोग भोगवासना को पीठ दिखाकर मोक्षरूपी सूर्य की ओर दौड़ लगाते हैं, भोग-विलास उनका पीछा करते हैं। स्वामी विवेकानन्द से एक महिला ने कहा :- “मैं चाहती हूँ कि आपके ही समान एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दूँ !”

इसका आशय स्पष्ट ही प्रणय निवेदन था; किन्तु अनासक्त भाव से सावधान होकर विवेकानन्द ने उत्तर दिया :- ! तुम मुझे ही अपना पुत्र मान ला ।”

ज्ञानी वासना के बन्धन में नहीं नहीं फँसते। वासना की पूर्ति से प्राप्त क्षणिक सुख के बदले वे मोक्ष का स्थायी सुख पाने का प्रयास करते हैं।

# कथा-खण्ड

## पुण्यपाल महाराज

महाराज पुण्यपाल आठ स्वप्न देख कर एक दिन प्रातः उठें । प्रारंभिक क्रियाओं से निवृत्त होकर वे प्रभु महावीर के दर्शन, वन्दन और प्रवचन श्रवण के लिए पहुँचे । प्रवचन समाप्त होने के बाद उन्होंने अपने सपने सुनाये । उन सपनों का आशय प्रकट करने के लिए उन से जो कुछ कहा गया, उसका सारांश इस प्रकार है : -

‘पहला सपना :- एक विशालकाय हाथी, जिसे बड़ी गजशाला में बाँधा गया था, बन्धन छुड़ाकर पुरानी छोटी गजशाला में चला जाता है ।

- ससारी प्राणियों को त्याग का मार्ग रूचेगा नहीं । वे भोग मार्ग में भटकेंगे । यदि त्याग का विचार कभी आ भी गया तो वह टिकेगा नहीं ।

दूसरा सपना :- एक छोटा बन्दर किसी बड़े बन्दर से झगड़ रहा है । भविष्य में होने वाले आचार्य परस्पर हिल मिलकर नहीं रह सकेंगे ।

तीसरा सपना :- कल्पवृक्ष के फल आसपास की बागड़ में गिर जाते हैं, जिससे लोगों को वे मिल न सके

- लोग दान तो अवश्य करेंगे; किन्तु उसका लाभ कुपात्र ही उठा-येंगे । सृपात्रदान नहीं के बराबर होगा ।

चौथा सपना :- सुन्दर सरोवर के तट पर बैठा हुआ एक कौआ निकट ही बहते हुए गन्दे नाले का जल पीता है और पनिहारियों के सिरपर रहे हुए मड़ो का जल अपनी चोंच से अशुद्ध कर देता है ।

- घर का पवित्र भोजन लोगों को पसंद नहीं आयगा और बाहर (होटल आदि) के अपवित्र भोजन को भी वे खुशी से खायेंगे । साधु और श्रावक किसी का उपदेश सुनना नहीं चाहेंगे । जाति और समाज के बन्धन शिथिल होते जायेंगे ।

पाँचवाँ सपना :- एक जंगल में कोई तेजस्वी सिंह मरा हुआ पड़ा है। उसे देखकर सियार भाग जाते हैं; किन्तु उसी (सिंह) के शरीर में उत्पन्न कीड़े उसे नोंच-नोंचकर खा रहे हैं ।

- तीर्थंकर, केवली, गणधर, चौदह पूर्वधर जैसे महाज्ञानियों के अभाव में भी जैनशासन मौजूद रहेगा । मिथ्यात्वी उससे डर कर दूर भाग जायेंगे; परन्तु आन्तरिक मत-भेदों से वह छिन्न-भिन्न होता रहेगा ।

छहवाँ सपना :- कीचड़ में कोमल कमल खिल रहे हैं; परन्तु उनमें

सुगन्ध का अभाव है। इससे विपरीत कूड़े के ढेर पर खिले हुए कभलों में भरपूर सुगन्ध है।

- उत्तम देश और उच्च कुल में उत्पन्न पुरुष अधार्मिक होंगे। इससे विपरीत साधारण देश-कुल में उत्पन्न पुरुष धार्मिक होंगे।

सातवाँ सपना :- एक किसान उर्वर भूमि में, उगनेवाला उत्तम बीज और उर्वर भूमि में, न उगने वाला खराब बीज बो रहा है।

- अच्छे परोपकार के पवित्र कार्यों में धन का दान न करके भोग भोग-विलास के अपवित्र कार्यों में ही धन खर्च करेंगे।

आठवाँ सपना :- कमल की पंखुरियों में (चाँदी का) श्रुत कलश मन्दे जल से भरा हुआ है। पत्ते उस पर चिपटे हुए हैं।

- सुन्दर पोशाक धारण करने वालों के दिल में दुर्भावना रहेगी। सज्जन कम होंगे, दुर्जन अधिक। दुर्जन सर्वत्र सज्जनों को सतार्येंगे।

महाराज पुण्यपाल को सपनों का जैसा आशय बताया गया था, उसके अनुसार हमें आज सारे दृश्य दिखाई दे रहे हैं। जैसे :-

(१) मनुष्य सदा भोग के ही विचार करता है। भोगोपभोग की सामग्री जुटाने के ही लिए धनोपार्जन करता है। इस बात को वह भूल जाता है कि धनमें सुख नहीं है -

जनयन्त्यर्जने दुःखम्  
तापयन्ति विपत्तिषु ।  
मोहयन्ति च सम्पत्तौ  
कथमर्थाः सुखावहाः ॥

(जो धन कमाते समय दुःख देते हैं - संकटों में सन्तप्त करते हैं और सुख में मोहित करते हैं, वे सुखद कैसे हो सकते हैं ?)

धन साध्य नहीं है। वह परोपकार का साधन है। सत्कार्यों में उसका त्याग करना चाहिये। लोगों के हृदय में त्याग का विचार उठता तो है, परन्तु स्वार्थ के कारण वह टिक नहीं पाता।

(२) आज कितने अधिक आचार्य हो गये हैं? देखिये। एक म्यान में जिस प्रकार दो तलवारें नहीं रह सकती; एक जंगल में जिस प्रकार दो सिंह नहीं रह सकते; उसी प्रकार एक धर्मस्थान में एक साथ दो आचार्य नहीं रह सकते।

प्राचीन काल में यह समस्या बिल्कुल नहीं थी; क्योंकि तब एक समय में एक ही आचार्य होते थे। आज की तरह जैन धर्म के भिन्न-भिन्न

सम्प्रदाय नहीं थे; इसलिए अलग-अलग आचार्यों की जरूरत भी नहीं थी। सभी उपाध्याय और साधु किसी एक ही आचार्य के अनुशासन में विचरण करते थे ।

राष्ट्र ही हम देखते हैं कि आज उस स्थिति का अभाव हो गया है।

(३) जहाँ तक दान का सवाल है, वह खूब हो रहा है । चन्दा माँगने वाले रसीद कट्टे लेकर घूमते रहते हैं। कुछ लोगों ने तो चन्दे को धन्धे के ही रूप में अपना लिया है । संस्थाओं के संचालकों से लोग पचास रूपयों में कट्टे खरीद लेते हैं । फिर उन कट्टों पर हजारों रूपये प्राप्त करके अपनी जेब में डाल लेते हैं । इस प्रकार अपात्रों या कुपात्रों के पास धन चला जाता है । सुपात्रों को बहुत कम धन मिल पाता है ।

(४) आज उपदेश देना तो सब चाहते हैं; परन्तु सुनना कोई नहीं चाहना । उपदेश देने में गुरुता के गौरव का अनुभव होता है । “मैं अधिक समझदार हूँ - दूसरों का उपदेशक बनने की योग्यता रखता हूँ” - इस घमण्ड का पोषण होता है; परन्तु उपदेश सुनने से अपनी अज्ञता के बोध की वेदना होती है । दोस्तों को घर में चाय पिलाने की अपेक्षा होटल में ले जाकर पिलाना क्यों अधिक पसंद किया जाता है ? उसमें भी अपने धनवान होने के घमण्ड की पुष्टि होती है ।

(५) दूसरे धर्मों के देवों, गुरुओं और क्रियाकाण्डों की तुलना में जैन धर्म के देव, गुरु आदि अधिक श्रेष्ठ होने से सम्यक्त्व कायम है और मिथ्यात्वों का हृदय में प्रवेश नहीं हो पाता; परन्तु श्वेताम्बर, दिगम्बर, तीन थुई, चार थुई, स्थानकवासी, मूर्ति पूजक, तेरह पन्थी, तारण पन्थी आदि अनेक अलग अलग सम्प्रदायों में टूट कर जैन शासन बिखर गया है - प्रभाव हीन हो गया है । यह स्थिति हम सब के लिए लज्जास्पद है ।

(६) धर्म का सार है - नैतिकता और प्रामाणिकता । ये दोनों गुण जितने विदेशों में आज पाये जाते हैं, उतने अपने उत्तम देश भारत में नहीं । भारत में जितने महापुरुषों ने धर्मगुरुओं ने-धर्मस्थानों ने-तीर्थों ने और धर्मशास्त्रों ने जन्म लिया है, उतनों ने विदेशों में नहीं; फिर भी जितनी बेईमानी, मिलावट, भ्रष्टाचार, रिश्तखोरी आदि भारत में फैली है, उतनी विदेशों में नहीं ।

यूरोप में वेजिटेबल सोसाइटियों की स्थापनाएँ हो रही हैं, किन्तु भारत में मांसाहार का प्रचार बढ़ रहा है । कुलीन विद्वान् नौकरी के लिए तरस रहे हैं, किन्तु आरक्षण का लाभ उठाकर हरिजन-आदिवासी बड़े-बड़े अफसर बनते जा रहे हैं ।



(७) आज वैज्ञानिक सामग्री के आविष्कारों से सुख पाने की लालसा के कारण टेलीवीजन, रेडियो, कार, रेफ्रीजरेटर, स्टीरियो, कैसेट टेपरिकार्डर आदि में हजारों रूपये लोग खुशी से खर्च कर देते हैं; परन्तु पगोपकार या सार्वजनिक हित के कार्यों में पाँच-दस रुपये भी बहुत मुष्किल से देते हैं।

(८) नीम के पेड़ दुनिया में अधिक हैं, आम के कम कांटे अधिक हैं, फूल कम पत्थर अधिक हैं, रत्न कम ! उसी प्रकार दुर्जन अधिक हैं, सज्जन कम । दुष्ट हमेशा शिष्टों को परेशान करते रहते हैं । कुछ लोगों की आदत ही होती है कि जब तक किसी से झगड नहीं लेते या दस-पाँच गालियाँ नहीं बक लेते, तब तक उन्हें भोजन ही नहीं भाता !

भविष्य के इस चित्रण को (जो इस समय हम देख रहे हैं) स्वप्न फल के रूप में सुनकर संसार से पुण्यपाल को विरक्ति हो गई। उन्होंने प्रभु महावीर से संयम ग्रहण करके आत्मकल्याण के पथ पर कदम बढ़ा लिया । धन्य हो गया- उनका जीवन !!!

## अंजना

सुसराल और पीयर से अपमानित होकर अंजना जंगल में चली जाती है और वहाँ फंक हुए, पेड़ों के फलों तथा बहते हुए झरने के निर्मल जल का उपयोग करती हुई निर्भयता और शान्ति से अपने गर्भस्थ शिशु का पोषण करती है ।

पुण्योदय से एक दिन चार ज्ञान के धारक महामुनि विद्याचरण के दर्शन होते हैं ।

श्रद्धापूर्वक वन्दन करके ज्ञानी गुरुदेव से अंजना पूछती है :-  
“भगवन ! कृपा करके मुझे अपने पूर्वभव का वृत्तान्त बताईये, जिससे मैं समझ सकूँ कि इस भव में मेरा इतना अपमान क्यों हुआ ? क्यों मुझे इतना दुःख उठाना पड़ा ?”

गुरुदेव बोले :- “बहन ! वृत्तान्त सुनाने से पहले मैं तुम्हें एक खुशखबर सुना देना चाहता हूँ कि तुम्हारे उदर में जो जीव पल रहा है, वह अत्यन्त पुण्यशाली है । पिछले पाँच भवों से वह धर्मारोधना करता आ रहा है और यह उसका चरम शरीर है। इसी भव में वह केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जानवाला है ।”

यह सुनकर अंजना को असीम सुख का अनुभव हुआ; फिर भी अपना पूर्वभव जानने की उत्सुकता उसमें बनी रही । मुनिवर ने उसकी उत्सुकता को शान्त करने के लिए पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाना प्रारम्भ किया । बोले :- “एक राजा थे- कनकराय । दो रानियों के पति थे । एक रानी का नाम था- कनकोदरी और दूसरी का लक्ष्मीवती ।

“तस्यासीत् गेहिनी लक्ष्मी-

लक्ष्मीलक्ष्मीपतेरिव ॥”

उसकी रानी लक्ष्मी साक्षात् लक्ष्मीपति (विष्णु) की लक्ष्मी के समान सुन्दर थी । राजा उसकी सुन्दरता पर मुग्ध थे । यही कारण था कि वे लक्ष्मीवती को अधिक चाहने लगे थे । इससे कनकोदरी के मन में ईर्ष्याग्नि भड़क उठी । वह उसे परेशान करके सन्तोष का अनुभव करने लगी ।

लक्ष्मीवती प्रभु की एक प्रतिमा का प्रतिदिन भक्तिभाव से पूजन किया करती थी । कनकोदरी ने एक दिन उस प्रतिमा को घूरे के ढेर में ले जाकर छिपा दिया । बाईस घंटे तक उसके वियोग में लक्ष्मीवती तड़पती

रही। लेकिन फिर कनकोदरी को पस्तावा होने से प्रतिमा लौटा दी। हे बहन! पूर्वभव की वह कनकोदरी ही तू है। बाईस घंटे तक तूने लक्ष्मीवती को उसकी प्रिय पतिमा से वियुक्त रक्खा; इसीलिए इस भव में तू अपने प्रियतम से बाईस वर्षों तक वियुक्त रही। वियोग की वह अवधि अब लगभग समाप्त पर है। अब शीघ्र ही रात के बाद जिस प्रकार अरुणोदय होता है, वैसे दुःख के बाद तुम्हारे सुख के दिन आनेवाले हैं।”

ऐसा कह कर मुनि चले गये। इधर सवा नौ मास पूर्ण होने पर अंजना ने एक तेजस्वी पुत्र रत्न को जन्म दिया; किन्तु ऐसे जंगल में जन्मोत्सव मनाने के लिए फूटी थाली बजाने वाला भी कोई नहीं था। अपने इस दुर्भाग्य पर वह सिसकियाँ भर-भर कर रोने और विलाप करने लगी।

उसी समय प्रतिसूर्य राजा अपने विमान में बैठकर आकाश मार्ग से कहीं जा रहा था। विलाप की ध्वनि सुनते ही उसने विमान को नीचे उतारा। बानचीत से पता चला कि अंजना उसकी भानजी थी। बड़े प्रेम और हर्ष से दोनों को विमान में बिठा कर वह अपनी राजधानी के राजमहल में ले जाता है।

कहावत है- “जैसी सीप, वैसा मोती। इस के संयम के बाद यह शिशु तेजस्वी माता से उत्पन्न हुआ था; इस लिए माता के ही समान उसके मुखमण्डल पर भी तेजस्विता चमक रही थी। इस शिशु का नाम रखा जाता है - हनुमान।

उधर युद्ध में शानदार विजय प्राप्त करके अंजना के पति पर्वजयकुमार जब अपनी राजधानी में लौटते हैं तो सारे नागरिक उन पर फूलों की बरसात करके उनका स्वागत करते हैं। कुमार राजमहल में पहुँचकर माता-पिता को प्रणाम करते हैं और फिर सीधे अंजना के कमरे की ओर बढ़ आते हैं।

उस कमरे का बन्द द्वार खोलते हैं तो पता चलता है कि उसके आँगन में एक-एक इंच धूल जमी हुई है। वे भावुक होकर इधर-उधर नजर दौड़ाते हैं और पुकारते हैं - “अंजना! — — — अंजना! ... कहाँ हो अंजना? ... मेरी आँखें तुम्हें देखने के लिए तरस रही हैं! जल्दी आओ ... सामने आओ ... इन आँखों की प्यास बुझाओ।”

परन्तु इस चीख-पुकार का उन्हें कोई उत्तर नहीं मिलता। गगने हुए वे माँ के पास लौट आते हैं और अंजना के त्रिपथ में पूछते हैं। माँ कहती है - “नाम मत लो उस कुलक्षणा का! जिसने अपने कृकर्म से दोनों कुलों का यश मिट्टी में मिला दिया है। विवाह के बाद कभी तुमने

उससे बात नहीं की। इक्कीस वर्ष इसी तरह बिना बोले बीत गये और गतवर्ष तो तम युद्धार्थ अपनी सेना के साथ प्रस्थान हो कर गये थे। इस प्रकार मिलन का मौका ही नहीं आया; फिर भी उसके शरीर में गर्भचिन्ह प्रकट होने लगे तो इससे पहले कि लोग हमारे कुल की पवित्रता पर उँगलती उठाये, हमने अंजना को घर से निकाल दिया।”

कुमार :- “अंधेर हो गया माँ ! तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये था। सेना के साथ जिस दिन युद्ध के लिए हमने प्रस्थान किया था उसी दिन हमारा पड़ाव एक सरोवर के तट पर हुआ। चाँदनी रात थी। सारी सेना सो रही थी; परन्तु सरोवर के तट पर एक पक्षी पति के वियोगमें रो रही थी मुझे भी अंजना की याद आ गई। नींद आ नहीं रही थी। उसी समय मेरी दशा देख कर एक मित्र ने मुझे सलाह दी कि अभी राजधानी से अधिक दूर तो हम आये नहीं हैं। चुप चाप यहाँ से तेज घोड़े पर सवार होकर आप घर जाइये और मिलकर अरूणोदय से पूर्व यहाँ आ जाइये। किरसी का मानूम भी नहीं होगा और आपका मन भी सन्तुष्ट रहेगा। इससे युद्ध क्षेत्र में आप अधिक उमंग से लड़ सकेंगे और विजय आसान हो जायगी। मित्र की उस सलाह के अनुसार ही मैं अंजना से चुप चाप मिलने आया था माँ ! निशानी के रूप में मैं अपनी अंगूठी भी उसकी उँगली में पहना गया था, जिससे कोई उसके चरित्र पर सन्देह न करे।”

माँ :- “हाँ, उसने प्रमाण के रूप में तुम्हारे नाम से अंकित अंगूठी दिखाई जरूर थी; परन्तु मैंने समझा कि वह नकली अंगूठी अपनी इज्जत बचाने के लिए उसने बनवा ली होगी; इस प्रकार जब हमने उस पर विश्वास नहीं किया तो उसे उसके मायके भेज दिया; कुछ दिनों बाद पता चला कि यहाँ से अंजना अपने पीहर गई थी; किन्तु माता-पिता ने भी उसे घर से निकाल दिया। अब पता नहीं, इस समय वह कहाँ है ?”

कुमार :- “कहीं। भी हो माँ ! मैं आज ही इसी समय उसे खोजने के लिए निकल रहा हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक उसे खोज नहीं लूँगा, घर नहीं लौटूँगा।”

पवनजय कुमार अंजना की खोज में निकल गये। सबसे पहले वे अपनी ससुराल के नगर में गये और वहाँ की सीमा पर बसने वाले नागरिकों से पूछा कि साल भर पहले गर्भवती अंजना यहाँ से चली गई थी- अंकली; सो याद करके बताइये कि वह किस दिशा में गई ?

फिर नागरिकों के द्वारा प्रदर्शित दिशा में वे चल पड़े। अनेक दुर्लभ्य पहाड़, नदियाँ और पेड़ों से भरे घोर जंगलों की खाक छानते रहे; परन्तु अंजना का कहीं पता नहीं चला।

आखिर सब और से निराश होकर उन्होंने अब यह मान लिया कि शायद जंगल के हिंसक पशु उसे खा गये होंगे । अपनी प्रियतमा की दुर्दशा और मृत्यु के लिए वे स्वयं को दोषी मानकर उसका प्रायश्चित्त करना चाहते थे । इसके लिए वे अग्निचित्ता सुलगाकर उसमें कूद कर अपने प्राणों की आहुति देना ही चाहते हैं कि उसी समय प्रतिसूर्य वहाँ आकर उनका हाथ पकड़ लेते हैं और सारे कुशल-समाचार उन्हें सुनाते हैं । फिर अपने साथ विमान में बैठाकर पवनजय को अंजना और हनुमान् से मिलाते हैं । कुछ दिनों बाद तीनों को विमान में ही बिठा कर उनकी राजधानी में छोड़ आते हैं । सर्वत्र हर्षोल्लास छा जाता है । इस कथा से यह शिक्षा लेनी चाहिये कि संकटों में हम व्याकुल न हों । संकट के कारण अपने पूर्वजन्म के कर्मों को सोचे ।

## मदन रेखा

महामुनि मणिचूड़ ने अपने ज्ञानचक्षु से जान लिया की विद्याधर मणिप्रभ जिस महिला को साथ लेकर यहाँ दर्शनार्थ आया है, वह महासती मदन रेखा है जिसने भोर जंगल में प्रसूति के बाद अपनी साड़ी के एक हिस्से को फाड़ कर उसकी झोली में नवजात शिशु को लिटा दिया था और झोली को एक पेड़ की शाखा से बाँधकर स्वयं स्नान के लिए सरोवर तट पर पहुँची थी। स्नान के बाद साड़ी पहिन कर ज्यों ही यह लौट रही थी कि सहसा एक मदोन्मत हाथी ने सूँड में उठा कर इसे अपनी पूरी शक्ति से आकाश में उछाल दिया था। उसी समय इस विद्याधर ने अपने विमान में झेलकर इसके प्राण बचाये; किन्तु इसके अनुपम सौन्दर्य पर यह इस समय आसक्त है और यहाँ से जाने के बाद अपने राजमहल में ले जाकर इसे रानी बनाने की सोच रहा है। फिर क्या था? महामुनि ने वैराग्यवर्धक उपदेश की ऐसी धारा बहाई कि विद्याधर मणिप्रभ की कामवासना शान्त हो गई। मणिप्रभ मदनरेखा को बहिन की नजर से देखने लगा। इतना ही नहीं, मुनिराज से उसने परस्त्रीगमन की प्रत्याख्यान ले लिया

प्रवचन समाप्त होने के बाद चार ज्ञान के धारक महामुनि मणिचूड़ से मदन रेखा ने अपने नवजात शिशु का वृत्तान्त पूछा। मुनिराज ने कहा :- “मिथिला नरेश महाराज पद्मरथ अपने घोड़े पर सवार होकर उधर से निकले। नवजात शिशु को झोली में लिटाकर जानेवाली माँ कही आसपास ही होगी। ऐसा सोचकर उन्होंने खूब तलाश की। किन्तु जब माँ का पता नहीं लगा तो उसे उठाकर वे अपने राजमहल में ले गये। महाराज निःसन्तान थे। उन्होंने घोषित कर दिया कि रानी को गुप्तगर्भ था, जिसने पिछली रात जन्म लिया है। सारी मिथिला में पुत्रजन्मोत्सव इस समय मनाया जा रहा है। नमिराज उसका नाम रक्खा गया है और वह बड़े प्रेम से राजमहल में पल रहा है। वह बहुत ही पुण्यशाली जीव है।” -चरम-शरीरी है।

यह सुनकर मदनरेखा बहुत सन्तुष्ट हुई। उसी समय एक महातेजस्वी देव वहाँ आया। उसने पहले मदनरेखा को प्रणाम किया और फिर महामुनि को। दर्शकों के मन में सहसा यह शंका हुई कि आगन्तुक देव ने पहले एक श्राविका को वन्दन क्यों किया ?

बिना पूछे ही महामुनि ने इस शंका को जानकर कहा :-

“भव्यात्माओ !

आपके मन में जो शंका उठ रही है, उसका समाधान तभी होगा, जब आप इस आगन्तुक देव के पूर्वभव का वृत्तान्त सुन लेंगे। यही देव पूर्वभव में इस सती पतिव्रता महिला का पति युगबाहु था। मालव प्रान्त के सुदर्शन नगर के राजा मणिरथ का यह छोटा भाई था। मणिरथ इस सती के सौन्दर्य पर आसक्त हो गया था। युगबाहु को मिलन में बाधक मान कर मणिरथ ने एक दिन विषबुद्धी तलवार से उस पर प्रहार कर दिया। युगबाहु मूर्च्छित होकर जमीन पर लूढ़क गया। मणिरथ घबराकर वहाँ से भाग निकला। युगबाहु के अंगरक्षकों ने उसका पीछा किया; परन्तु वह पकड़ा न जा सका। मदनरेखा ने देखा कि युगबाहु के प्राण अब कुछ ही मिनटों के मेहमान हैं, तब इसके मस्तक को गोद में रख कर उचित उपचार द्वारा पहले मूर्च्छा दूर की और फिर गति सुधारने के लिए धार्मिक उपदेश दिया - अनित्य भावना, अशरण भावना, एकत्व भावना की धारा बहा कर पतिदेव को भावना को निर्मल बना दिया। फलस्वरूप देह छोड़ने के बाद इसे देवगति में ऐसा दिव्यरूप और अटूट वैभव प्राप्त हुआ। यदि मणिरथ के प्रति प्रतीकार की भावना से क्रोध की अवस्था में इसका प्राणान्त होता तो यह अवश्य नरक में जाता! देवगति में उत्पन्न होते ही इसने जान लिया कि नरक से बचाकर, स्वर्ग में भंजनेवाली परमोपकारीणी, मदनरेखा इस समय यहाँ है; अतः प्रत्युपकार के रूप में कुछ सेवा सहायता करनी चाहिये। अपनी हार्दिक कृतज्ञता का परिचय देने के ही लिए इस देव ने पहले मदनरेखा को वन्दन किया था। यह इसे इस समय पत्नी नहीं, किन्तु धर्मोपदेशिका गुरुणी मानता है।”

फिर श्रोताओं में से एक ने पूछा :- “मणिरथ का क्या हाल हुआ ?”

महामुनि :- मणिरथ पकड़े जाने के भय से जंगल में पैदल ही भागा जा रहा था। धीरे-धीरे अँधेरा हुआ। अँधेरे में एक काले साँप पर उसका पाँव पड़ गया। उसने मणिरथ के पाँव में डस लिया। डसते ही उसके सारे शरीर में जहर फैल गया। मणिरथ का जीव मर कर पाँचवीं नरक में उत्पन्न हुआ है और अपने पापों का कृफल भोग रहा है।”

फिर एक अन्य श्रोता ने पूछा :- “जब मणिरथ और युगबाहु दोनों मर गये— तब सुदर्शन नगर का इस समय राजा कौन है ?”

मणिचूड :- “युगबाहु का बड़ा पुत्र चन्द्रयश। वही इस समय राजसिंहासन पर आसीन होकर कुशलतापूर्वक उस नगर की प्रजा का पालन कर रहा है।”

एक जिज्ञासु ने पूछा :- “महासती मदनरेखा को जंगल में किसने भेजा ?”

मणिचूड़ :- बाहू की अन्त्येष्टि के बाद महासती को विरक्ति हो गई परन्तु यह गर्भवती थी । पुत्र को जन्म देकर उसका पालन-पोषण करना अपना प्रथम कर्तव्य मानती थी । यह पति की मृत्यु के बाद गापी मणिरथ जेठ अधिक सता सकता था; अतः भवन की अपेक्षा वन में निवास करना ही इस श्रेयस्कर लगा । फलस्वरूप यह चुपचाप जंगल में जा पहुँची । वहीं इसकी प्रसूति हुई । प्रसूति के बाद बच्चे को झोली में लिटाकर यह सरोवर में स्नान करने गई । स्नान करके वस्त्र धारण करने के बाद एक वन गज ने उसे सूँड से उठाकर आसमान में उछाल दिया । उसी समय विद्याधर मणिपथ ने इसके शरीर को विमान में डेल लिया था । फिर मदनरेखा के आग्रह से विमान को अपने अन्तःपुर में ले जाने से पहले इसके द्वारा यहाँ लाया गया, जिससे ये दोनों दर्शन- वन्दन का लाभ उठा सकें ।”

इस वृत्तान्त को सुन कर श्रोता अपने-अपने घरों को चले गये । देव ने सती से अनुरोध किया कि मुझे किसी भी तरह की सेवा का अवसर दिया जाय, सती ने कहा कि मैं प्रव्रज्या लेना चाहती हूँ, अतः आप मुझे साध्वी सुव्रताजी के समीप ले चलिये । देव विमान में बिठाकर साध्वी सुव्रताजी के निकट सती मदनरेखा को ले गया । मदनरेखा ने उन्हें वन्दन करके उनसे पंच महाव्रत ग्रहण कर लिये । इस प्रकार साध्वी जीवन अंगीकार करने के बाद साध्वी सुव्रताजी के साथ ग्रामानुग्राम विचरण करती हुई वह तपस्या के द्वारा कर्मनिर्जरा करने लगी ।

तीस-पच्चास वर्ष बीतने पर महाराज पद्मरथ भी नमिराज को सिंहासन सौंपकर आत्मकल्याण की साधना में लग गये । इस प्रकार महाराज नमि मिथिला के नरेश बन गये ।

एक दिन विशालकर्ण नामक उनका प्रिय हाथी मदनोन्मत्त होकर भाग निकला । मार्ग में आने वाले अनेक वृक्षों को सूँड से उखाड़ कर आसमान में उछालता हुआ विशालकर्ण मालवदेश की सीमा पर जा पहुँचा । वहाँ गाँवों में ऊधम मचाने लगा । गरीबों की झोपड़ियों को गिराते लगा । उसकी भयंकर चिंता से स्त्री- पुरुष-वृद्ध बालक सभी थर थर काँपने लगे ।

यह स्थिति देखकर गाँवों के सरपंच सुदर्शन नगर के राजमहल में पहुँचे और महाराज चन्द्रयश से प्रार्थना करने लगे कि वे उस हाथी से प्रजा की रक्षा करें ।

महाराज चन्द्रयश ने तत्काल गजविद्या में कुशल कुछ सैनिकों को भेज दिया । सैनिक मालवदेश की सीमा पर जा कर विशाल कर्ण को पकड़ लाये और महाराज चन्द्रयश के आदेशानुसार उसे गजशाला में बाँध



दिया । यहाँ भी अपने गुणों के कारण महाराज चन्द्रयश का वह प्रेमपात्र बन गया ।

उधर से ज्यों ही नमिराज को ज्ञात हुआ, त्यों ही उन्होंने राजदूत के साथ यह सन्देश सुदर्शन नगर में भिजवाया कि विशालकर्ण हमारा है; उसे शीघ्र हमें सौंप दें अथवा युद्ध के लिए तैयार रहें ।

सच्चे क्षत्रिय युद्ध की धमकियों से नहीं डरते । चन्द्रयश ने चुनौती स्वीकार कर ली । युद्धक्षेत्र में दोनों ओर से सेनाएँ आ डटीं ।

मदनरेखा को जब मालूम हुआ कि एक हाथी के पीछे घोर युद्ध दो सहोदर भाइयों में छिड़ने वाला है, तब वह तत्काल एक अन्य साध्वी को साथ लेकर युद्धक्षेत्र में पहुँची । दोनों को एक दूसरे का परिचय कराया। इससे वैर प्रेम में बदल गया । दोनों भाइयों का भरतमिलाप देख कर सबकी आँखें हर्षाश्रुओं से भीग गईं । दोनों सेनाएँ महासती मदनरेखा की जयजयकार करके अपनी-अपनी राजधानियों को लौट गईं । महासती मदनरेखा की कृपा से आज बिना युद्ध किये ही दोनों राजाओं की विजय हो गई थी !

## मयणासुन्दरी

उज्जयिनी नरेश प्रजापाल ने भरी सभा में अपनी दोनों पत्नियों से एक प्रश्न किया :- “सुख पिता से मिलता है या पुण्य से ?”

एक पुत्री सुरसुन्दरी ने कहा :- “पिता से” दूसरी मैनासुन्दरी ने कहा :- “पुण्य से ।” प्रसन्न पिता ने सुरसुन्दरी का विवाह शंखपुरनरेश अरिदमन से कर दिया; किन्तु मयणासुन्दरी के उत्तर से अप्रसन्न होकर उसका विवाह उंबर राणा नामक एक कौड़ी से किया ।

नवपद की विधिपूर्वक आराधना से कोढ़ मिटने के बाद धर्मस्थान से राजमहल की ओर जाते समय माँ कमलप्रभा के दर्शन हुए । श्रीपाल ने चरण छूकर कहा :- “मयणा ! यह तुम्हारी सास है । प्रणाम करो ।”

मयणा प्रणाम करके बहुत खुश हुई । तीनों राजमहल में गये । प्रजापाल ने कमलप्रभा का स्वागत किया और पूछने पर अपना पिछला वृत्तान्त इस प्रकार सुनाया :- “हे राजन् ! मैं चम्पानरेश सिंहरथ की रानी हूँ । श्रीपाल मेरा पुत्र है । जब यह पाँच वर्ष का था तब इसके पिता चल बसे । राज्य हड़पने के लिए इसके काका अजितसेन इसे जान से मार डालना चाहते हैं- ऐसी भनक पड़ते ही मैं इसके प्राण बचाने के लिए इसे लेकर जंगल में भाग गई । वहाँ सात सौ कौड़ियों के एक दल को देखा । श्रीपाल को सुरक्षा के लिए मैंने दल के साथ भेज दिया और मैं कोढ़ के इलाज की दवा ढूँढने चल पड़ी । वर्षों बाद आज अकस्मात् इसे अपनी सह धर्मिणी के साथ देखा और इन दोनों के अनुरोध से राजमहल में चली आई ।

राजा ने राजमहल के एक सुन्दर कक्ष में तीनों को ठहराया । वे सानन्द रहने लगे । एक दिन श्रीपाल ने नगर में पर्यटन करते समय किसी प्रजाजन को यह कहते हुए सुना कि ये प्रजापाल के जमाई हैं । यह बात चुभ गई; क्यों कि नीतिकारों ने कहा है :-

उत्तमाः स्वगुणैः ख्याताः,

मध्यमास्तु पितुर्गुणैः ।

अधमाः मातुलैः ख्याताः,

श्चश्रुरैरधमाधमाः ॥

(उत्तम अपने गुणों से विख्यात होते हैं; मध्यम पिता के गुणों से, नीच मामा के गुणों से और नीचतम व्यक्ति ससुर के नाम से जाने जाते हैं)

फल यह हुआ कि अपने गुणों से ख्याति अर्जित करने के लिए बारह वर्ष आठ दिन के बाद निश्चित रूपसे लौट आने का वचन माता और पत्नी को देकर श्रीपालजी चल पड़े ।

वचन के ही अनुसार एक वर्ष और सात दिन की अवधि पूरी होने पर रात को गुप्तरूप से राजमहल में पहुँचकर श्रीपाल अपनी माता और मेना को नगरी से बाहर ले गये । वहाँ अपने डर पर ले जाकर उन्होंने अपना संपूर्ण वृत्तान्त संक्षेप में दोनों को इस प्रकार सुनाया :-

“जंगल में भ्रमण करते हुए, एक विद्याधर की विद्यासिद्धि में सहायक बनने के कारण प्रसन्न होकर मुझे उसने दो विद्याएँ सिखा दीं-जलतारिणी और शस्त्रतारिणी ।

आगे बढ़ने पर एक योगी को मेरी उपस्थिति से स्वर्णसिद्धि में सहायता मिल गई । उसने भी अत्यन्त आग्रह के साथ मुझे थोड़ासा स्वर्ण भेंट किया ।

वहाँ से चलकर भड़ौच नगर के बाहर एक उद्यान में विश्राम करने बैठा तो मुझे नींद आ गई । लोगों का शोरगुल सुनकर मैंने आँखें खाली तो अपने को सैनिकों से घिरा पाया । पूछने पर पता चला कि धवलसेठ के अटके हुए पाँच सौ जहाजों को चलाने के लिए वे मेरी बलि देना चाहते हैं । मैंने सेठजी के पास पहुँच कर कहा कि किसी पुरुष की हत्या से न कभी कोई जहाज चला है और न चलेगा । यह एक भयंकर अन्धविश्वास है । मैं बिना हत्या किये ही आपके सारे जहाज चला सकता हूँ ।

फिर नवपद का स्मरण करते हुए मैंने एक-एक जहाज को छोड़ा कि वह तत्काल चल पड़ा । सेठजी के साथ जहाज में दूर-दूर तक पर्यटन का अवसर मिलेगा-ऐसा सोचकर सौ स्वर्ण मुद्राएँ प्रतिमास के किराये पर जहाज में मैंने स्थान ले लिया । इस प्रकार मेरी सामुद्री यात्रा प्रारंभ हुई ।

बर्बरदेश में पहुँचे । वहाँ महसूल न चुकाने पर अपराध में धवलसेठ पकड़ा गया । सेठजी को नीतिकारों का यह वाक्य याद आ गया :-

“सर्वनाशे समुत्पन्ने

अर्थं त्यजति पण्डितः ॥”

(सर्वनाश के अवसर पर जो आधे का त्याग कर देता है, वह पंडित है)

बोले :- “श्रीपालजी ! कृपा करके मुझे छोड़ा लीजिये । माल से भरी हुई आधी जहाजें मैं आपको भेंट कर दूँगा ।”

मैंने शस्त्रनिवारिणी विद्या का उपयोग करके युद्ध में महाकाल की

सेना पर विजय प्राप्त की और सेठजी को मुक्त कराया। महाकाल ने मदनसेना नामक अपनी कन्या से मेरा विवाह कर दिया। बिदाई के समय एक नर्तकी और सतमंजिली एक जहाज भेंट की। सेठजी से भी ढाई सौ जहाजें मिल गईं। एक दिन सेठजी किराया माँगने आये तो उनके हिसाब से जितना होता था, उससे दस गुना किराया मैंने दे दिया। उसके बाद तो बिना माँगे ही प्रतिमास दस-दस गुना किराया उन्हें देता रहा।

मार्ग में रत्नद्वीप आया। वहाँ रत्नसंचय नगर के राजा कनककेतु के जिनमान्दिर के बंद दरवाजे मुझे से खुल गए, प्रसन्न होकर राजा ने राजकुमारी रत्नमंजुषा से मेरा विवाह कर दिया। वहाँ भी कर चोरी के अपराध में पकड़े गये सेठजी को मैंने छुड़ाया।

कुछ दिनों बाद वहाँ से बिदा होकर आगे बढ़े। सेठजी सोचने लगे कि यदि किसी तरह से वे मुझे समुद्र में डुबा दें तो ढाई सौ जहाजों पर फिरसे अधिकार मिल जाय। साथ ही सतमंजिला जहाज और दोनों सुन्दरियाँ भी प्राप्त हो जायँ। अपने कुविचार को शीघ्र ही उन्होंने कार्यरूप में परिणत किया।

सूतली का कच्चा मचान बनवाकर मुझे उस पर बिठा दिया और फिर मित्रों की सहायता से रस्सी कटवाकर मुझे समुद्र में गिरा दिया। जलतारिणी विद्या के बल पर मैं कुंकुम देश जा पहुँचा। वहाँ ठाणा नगरी के राजा वसुपाल ने राजपुत्री गुणमाला से मेरा विवाह कर दिया। मैं वहाँ सानन्द रहने लगा।

कुछ दिनों बाद सेठजी भी वहाँ आये। मुझे सकुशल देखकर चौंके। एक लाख रुपयों के पुरस्कार का प्रलोभन देकर भाँडों की एक मंडली को तैयार किया, जिससे वह मुझे राजा की नजरों से गिराने का प्रयास करें। मंडली को अभिनय में सफलता मिली। राजा ने मुझे भाँडों का रिश्तेदार समझा; परन्तु शीघ्र ही उनका यह भ्रम मिट गया; क्योंकि झूठ के पाँव नहीं होते। मेरे कहने पर जब सतमंजिले जहाज की तलाशी ली गई तो मदनसेना और रत्नमंजुषा-इन दोनों ने मेरे पक्ष में गवाही दी। राजा ने क्रुद्ध होकर सेठजी को पकड़ लिया; किन्तु मेरे कहने से छोड़ दिया। यही नहीं, उनका आतिथ्य सत्कार भी किया। मैं तीनों रानियों के साथ राजमहल में सानन्द रहने लगा। हालचाल पूछने पर एक दिन मदनसेना ने बताया कि सेठजी के हृदय में काम, क्रोध और लोभ-इन तीन भूतों का निवास है। हम दोनों अनाथ अबलाओं का शीलभंग करने के लिए वे हाथ में तलवार लेकर हमारे जहाज में रात को मिलने आये। नवपद का स्मरण करके हम समुद्र में कूदने ही वाली थीं कि सहसा सिंहवाहिनी चक्रेश्वरी देवी प्रकट हुईं। सेठजी ने क्षमा माँगी और पलायन कर गये।

देवी ने एक-एक पुष्पमाला दोनों को दी और कहा कि इन मालाओं के प्रभाव से शीलरक्षा होगी और आश्वासन दिया कि एक मास की अवधि में पतिदेव से मिलाप हो जायगा। देवी अदृश्य हो गई। फिर कुछ दिनों बाद कामज्वर प्रबल होने पर सेठजी नारी का वेष पहिन कर मिलने आये; परन्तु पुष्पहार के प्रभाव से हम पुरुषरूप में दिखाई दीं। सेठजी डरकर भाग गये। फिर इस द्वीप में आने पर आपक दर्शन हुए। मैंने भी अपना वृत्तान्त उन्हें सुनाया। प्रातःकाल उठने पर पता चला कि सेठजी स्वयं अपनी ही तलवार से कटे पड़े हैं। मेरी हत्या करने के लिए नंगी तलवार लेकर वे रस्सी के सहारे दिवार पर चढ़ने का प्रयास कर रहे थे; परन्तु तलवार हाथ से छूट गई और रस्सी टूटने से वे अपनी ही तलवार पर गिर कर कट मरे। उनकी अन्त्येष्टि के बाद कौशाम्बीनगर में सन्देश भेज कर धवलसेठ के पुत्र नवलसेठ को वहाँ बुलवाया और उन्हें समस्त पाँच सौ जहाजें सौंपकर बिदा किया।

कुछ दिनों बाद सुनने में आया कि किसी राजा की कन्या गणसुन्दरी ने प्रतिज्ञा की है कि जो संगीतज्ञ मुझ से अच्छी वीणा बजायेगा, उसी से मैं विवाह करूँगी। कुतूहलवश कुबड़े की आकृति में मैं वहाँ जा पहुँचा। वीणा बजाने की कला से सब को मुग्ध कर दिया। कन्या ने वरमाला मेरे गले में डाल दी। लोगों का सन्देह मिटाने के लिए मैं असली रूप में प्रकट हुआ। राजा ने धूम धाम से विवाह कर दिया।

फिर कंचनपुर के स्वयंवर में जाकर राजा वज्रसेन की कन्या तिलोकसुन्दरी से विवाह किया। वहीं किसी आगन्तुक से सुना कि दल्पत शहर के राजा धरापाल की कन्या शृंगार सुन्दरी और उसकी पंडिता, विचक्षणा, निपुणा, दक्षा और प्रगुणा इन पाँच सखियों ने प्रतिज्ञा की है कि स्वयंवर सभा में जो हमारी समस्याओं की पूर्ति करेगा, उसी युवक से हम विवाह करेंगी। मैं गया और अभीष्ट समस्यापूर्ति के द्वारा सब को सन्तुष्ट करके उन छहों से विवाह कर लिया।

उसके बाद राधावेध के द्वारा सन्तुष्ट होकर कोलागपुर नरेश पुरन्दरने अपनी पुत्री जयसुन्दरी से मेरा विवाह कर दिया। फिर मुझे आप दोनों की याद आई; इसलिए आगे न बढ़कर लौट आया। मार्ग में सणाश्वनगर के राजा महासेन की राजकुमारी तिलकसुन्दरी सपे दंश से मूर्च्छित हो गई थी। नवपद का स्मरण करके उसे मूर्च्छा से मुक्त किया तो राजा ने मेरे साथ उसका विवाह कर दिया। इस प्रकार यह विशाल सेना, सौद्धि समृद्धि और ये समस्त पत्नियाँ आपकी प्रथम पुत्रवधू मयणासुन्दरी से प्राप्त नवपद-भक्ति का ही सुफल है।”

बात ही बात में रात बीत गई। राजा प्रजापाल ने अभिनन्दन के साथ सबको नगर में प्रवेश कराया। कुछ दिनों बाद श्रीपालजी ने काका आर्यदमन से अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया।

# सूक्ति-खण्ड

## सुविचार

- \* अग्नि से स्वर्ण शुद्धि के तपस्या से आत्मशुद्धि होती है।
- \* दूध ठंडा हो तभी खटाई से दही बनता है; उसी प्रकार दिमाग शान्त हो तभी चिन्तन से समस्याओं का समाधान मिलता है।
- \* प्रेम वह “मास्टर” है, जिससे किसी भी आत्मा का ताला खुल सकता है।
- \* इच्छा का अभाव ही संयम है, जो उच्च धार्मिक जीवन की प्रागम्भिक आवश्यकता है।
- \* जिस हृदय में क्षमा होती है, उसी में परमात्मा निवास करते हैं।
- \* चेहरे के रूप को दर्पण बताता है तो आत्मा के रूप को आगम।
- \* माता-पिता तीर्थ के समान हैं; इसलिए जो माता-पिता के प्रति वफादार है, वही प्रभु के प्रति वफादार हो सकता है।
- \* विकास के साथ ज्ञान का प्रकाश आने पर पूर्णता का वह पथ दिखेगा, जिससे परमात्म पद प्राप्त हो सके।
- \* स्वयं को स्वयं ढूँढने पर विकास होगा।
- \* प्रभु की वाणी पर श्रद्धा हो, प्रतीति हो, रुचि हो तभी स्पर्श (आवरण) होगा।
- \* सुने हुए सुविचारों को मेहदी की तरह घोंटते रहने (मनन करते रहने) पर त्रेणय का रंग गहरायेगा और दुःख लुप्त होता जायेगा।
- \* जीवन का अर्थ (प्रयोजन या ध्येय) समझ में आ जाय तो मूर्च्छा चला जाय।
- \* लोग कहते हैं- “महाराज ! माला फिरते समय मन भटकता है” किन्तु कोई ऐसा नहीं कहता कि-“नोटों पर हाथ फिरते समय (नोट गिनते समय) मन भटकता है।”
- \* चिन्तन की गहराई में उतरने से वीतरागता सहज प्राप्त हो सकती है।
- \* भौतिक विज्ञान विश्वविनाशक है, किन्तु आध्यात्मिक विज्ञान विश्वविकासक है।
- \* जीवन का प्रत्येक पल मृत्यु की दिशा में ले जा रहा है।
- \* बाहर से इतना सारा दिल-दिमाग में भर दिया गया है कि यहाँ और

कुछ (आत्मज्ञान) भरा ही नहीं जा सकता अर्थात् स्वयं ही स्वयं को खोजने की मनःकामना उत्पन्न नहीं की जा सकती ।

- \* सिद्धान्तों का सब से विश्वसनीय मित्र परमात्मा है और सबसे बड़ा दुःख है-असन्तोष ।
- \* ज्ञान और क्रिया ये दोनों जीवनरथ के वे पहिये हैं, जो परमपद तक पहुँचा सकते हैं ।
- \* वाणी का विवेक और व्यवहार की शुद्धि जीवनविकास के लिए आवश्यक है ।
- \* किसी की प्रशंसा करना हौ तो पाँच मिनट में जीभ रुक जाती है; परन्तु यदि निन्दा करना हो तो बिना रुके जीभ घंटों चलती रहती है-जरा भी नहीं थकती !
- \* सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की प्रतीक अक्षत की तीन ढेरियों पर एक सौ आठ अक्षतों से अर्धचन्द्राकार सिद्धशिला बनाई जाती है, जो पंचपरमेष्ठि के एक सौ आठ गुणों की स्मारिका है ।
- \* अशुभ विचारों को निर्वासित कर शुभ विचारों को प्रवेश देने से जीवन सन्तुलित रहता है ।
- \* आज सर्वत्र जिस अनुपात में पुद्गलों (रूपों) का उन्मूल्यन हुआ है, उसी अनुपात में मानवता का अवमूल्यन हो गया है ।
- \* अज्ञान से कायरता, कायरता से भय और भय से दुःख होता है ।
- \* भावी जीवन की भव्यता वर्तमान जीवन की भव्यता पर निर्भर है ।
- \* हृदय की गहराई में ज्यों-ज्यों उतरते जायँगे, त्यों-त्यों आत्मा का वास्तविक निर्मल स्वरूप दिखाई देने लगगा
- \* सुदेव, सुगुरु और सुधर्म से यदि मोक्ष जैसा सर्वोत्तम पद मिल सकता है तो फिर संसार में क्या नहीं मिल सकता ?
- \* नाक श्वासोच्छ्वास के लिए मिला है; उसकी क्षणिक तृप्ति के लिए पुष्पों के प्राण लेना अनुचित है ।
- \* ट्रेन के डिब्बे में जब कोई नया यात्री घुसता है तो पहले लोग उसका विरोध करते हैं; किन्तु बाद में उससे मित्रता कर लेते हैं ! क्या यह मित्रता पहले नहीं की जा सकती ?
- \* सच्ची और मीठी बोली से, दया-दान से संयम (इन्द्रियों के और मन के निग्रह) से तथा सज्जनों का सम्मान करने से कोई भी व्यक्ति प्रसन्नता पा सकता है ।



- \* “अहम् ” को “अहम् ” बनाने के लिए आवश्यक है- परमात्मा का निरन्तर ध्यान ।
- \* शुद्धि और सरलता से ही ऐसी योग्यता प्राप्त होती है, जिससे आकृष्ट होकर मुक्तिरमणी जीव को वरमाला पहिनाती है ।
- \* ज्ञान और अनुभव का अभाव ही जीव को इच्छाओं का गुलाम बनाता है ।
- \* ज्ञान से जो इन्द्रियाँ आत्मा को मोक्ष दिला सकती हैं, विषयासक्ति से वे ही नरक भी दिला सकती है
- \* हजारों नदियों के मिलने पर भी समुद्र नहीं भरता; उसी प्रकार हजारों इच्छाएँ पूर्ण करने पर भी मन नहीं भरता ।
- \* जैसे जैसे आत्मा गुणस्थानों पर चढती जाती है, वैसे ही मोहराज का जोर बढ़ता जाता है और अनुकूल प्रलोभन उसे आकर्षित करने के लिए उठ खड़े होते हैं ।
- \* मदनरेखा ने मणिरथ को समझाया :- “शिष्ट कभी उच्छिष्ट नहीं खाते !”
- \* आयुष्य अल्प है, मृत्यु का ठिकाना नहीं; अतः कल का काम आज और आज का काम अभी (इसी समय) कर लेना ही समझदारी है
- \* यदि इस भव की भव्यता (मानवजीवन की महत्ता) समझ में नहीं आई तो आत्मा को दिव्यता कैसे प्राप्त होगी ?
- \* साधर्मिक वात्सल्य से त्याग और प्रेम की भावना पृष्ट होती है ।
- \* जगत् के लिए अर्थ और काम हैं, किन्तु जीवन के लिए धर्म और मोक्ष हैं ।
- \* जिनवाणी हृदय को उसी प्रकार स्वच्छ करती है, जिस प्रकार वस्त्रों को साबुन या बर्तनों को राख अथवा इमली ।
- \* यदि जीवन का लक्ष्य निर्धारित न हो तो संकट के समय यह ठान (स्थान) छोड़ देता है, दाम (धन) खो बैठता है और हाम (हिम्मत) हार जाता है ।
- \* दूध स्थिर हो तभी दही जमता है; उसी प्रकार मन स्थिर हो तभी उसमें विद्या जमती है ।
- \* ज्ञान के बिना धार्मिक क्रियाएँ नीरस (शुष्क) होती हैं ।
- \* थके हुए को लेटना पड़ता है-बड़बड़ानेवाले को मौन रहना पड़ता है! इससे सिद्ध होता है कि शक्ति का उगम शान्ति है, तूफान नहीं ।

